कल्याण-मार्ग-प्रकाशन—२

वैदिक-धर्म
एवं
भारतीय-संस्कृति
(एक परिचय)

लेखक
श्रीरामदास मिश्र 'विजय'
संस्थापक तथा संचालक—अध्यात्म-प्रचार-परिषद्

प्रकाशक
हिन्दी-प्रचारक-मंडल
लखनऊ

प्रकाशिका
श्री सुमति देवी मिश्र
हिन्दी-प्रचारक-मण्डल
कैलाश-भवन, बनियारीमण्डी लखनऊ

मुख्य विक्रेता
भारतीय-साहित्य-मन्दिर
पुस्तक-स्टेशनरी-विक्रेता
श्रीराम रोड, लखनऊ

प्रथम संस्करण संवत २०१३ वि०
मूल्य १।।।)

मुद्रक
बजरंगबली 'विशारद'
श्री सीताराम प्रेस, जालिपादेवी, वाराणसी।

कुछ बहुमूल्य सम्मतियाँ

ऋषीकेश के डा० स्वामी श्री विशुद्धानन्द सरस्वती

वैदिक-धर्म एवं भारतीय-संस्कृति, एक ऐसी छोटी-सी पुस्तक है, जिसको साधारण विद्वान् अच्छी प्रकार समझ सकते हैं इस पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात होगा कि हमारे वेद-शास्त्र इत्यादि में क्या है और उसके अनुसार हमको कैसे चलना चाहिये। आशा करता हूँ कि यह पुस्तक जन साधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी और वह इसको खुशी से अपनायेंगे।

काशी के यज्ञाचार्य पं० वेणीराम शर्मा गौड़

वेदाचार्य, वेदालंकार, काव्यतीर्थ, पौरोहित्यरत्न

वैदिक-धर्म एवं भारतीय-संस्कृति नाम की पुस्तक लघुकाय होने पर भी तात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक के सभी विषय मननीय और पठनीय हैं। आज अपने देश के सर्वात्मक अभ्युदय के लिये ऐसे विषयों के परिचय, प्रसार एवं प्रचार की परमावश्यकता है। मैं लेखक को इस स्तुत्य परिश्रम के लिये हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और इस अपूर्व पुस्तक के प्रचार की कामना करता हूँ।

डा० राधेश्याम तिवारी

बी० ए० आनर्स, एम० ए०, साहित्य-वाचस्पति, एल० बी०

प्रधान मन्त्री उत्तर प्रादेशिक हिन्दू महासभा

पं० रामदास मिश्र कृत वैदिक-धर्म एवं भारतीय-संस्कृति पुस्तक देखा। वेद-शास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों आदि पर जितना ही मनन, चिंतन

किया जाय अल्प है। छोटी-सी पुस्तक में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को लेखनीवद्ध कर देना गागर में सागर भरना है। आज जब विश्व के रंग-मंच पर समाजवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद आदि नवीन-नवीन विचार-प्रणालियाँ, वैदिकवाद को समाप्त कर देने पर ही कटिवद्ध दिखाई पड़ रही हैं। प्रस्तुत पुस्तक अमावस्या के पश्चात् पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति नास्तिक तिमिराच्छन्न गगन को प्रकाशित करने में समर्थ सिद्ध होगी। सिद्धांतों पर पुनः एक बार लेखक, पाठकों को विश्वास करने के लिये लाचार कर देगा। वैज्ञानिक प्रगति के आधुनिक युग में भी हमारे तत्व-दर्शी ऋषि-मुनियों ने जिस सास्वत सत्य का मानव मात्र के लिये निरूपण किया था। इस पुस्तक से आज भी सत्य सिद्ध हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि इसका अधिकाधिक प्रचार हो।

पं० रमाकान्त मिश्र एम० ए०

पी० एच० डी०, साहित्यवाचस्पति

भारतीय संस्कृति का आदर्श भौतिक नहीं आध्यात्मिक रहा है। इसी से भौतिकवादी देशों को सुख-शान्ति के लिये भारतवर्ष को ओर निहारना पड़ा है। वर्षों की परतन्त्रता के कारण इस संस्कृति की ज्ञान-गंगा के प्रवाह में कुछ शिथिलता अवश्य आ गई थी, परन्तु स्वतन्त्रता के स्वर्णिम प्रभात में उसे फिर विश्व को नव आलोक प्रदान करने का अवसर मिला है। वैदिक धर्म एवं भारतीय संस्कृति पुस्तक इस दिशा में एक सुन्दर सफल प्रयास है। राष्ट्र के नवनिर्माण में ऐसी पुस्तकों की वहुत बड़ी आवश्यकता है।

समर्पण

अपने पूज्य श्री गुरुदेव भगवान को

जिनके उपदेशों से हमें ज्ञानबोध प्राप्त करने के लिये
स्वाध्याय करने की प्रेरणा मिली
उन्हीं अनन्त श्री विभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय
श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वतीजी महाराज
संरक्षक अ० भा० सांस्कृतिक पुनरुत्थान परिषद्
संस्थापक अध्यात्म विद्यापीठ, ऋषिआश्रम, (नैमिषारण्य) को
वैदिक-भारतीय-धर्म-संस्कृति की यह परिचयात्मक पुस्तिका
श्रद्धापूर्वक समर्पण करते हुए
समस्त भारतीय समाज को
सादर सप्रेम अर्पित।

गुरु पूर्णिमा, २०१३
२२-७-१९५६

रामदास मिश्र

विषय सूची

वैदिक—भारतीय धर्म-संस्कृति

१—वैदिक धर्म की विशेषताएँ— ७

२—वैदिक भारतीय समाज के सिद्धान्त— ११

ईश्वर के विषय में, जीव के विषय में, प्रकृति के विषय में, जगत् उत्पत्ति के विषय में, धर्म-संस्कृति के विषय में, योग साधन के विषय में, सामाजिक जीवन के विषय में, राजनैतिक जीवन के विषय में, आर्थिक जीवन के विषय में।

३—वैदिक-भारतीय धर्म-संस्कृति के आधार-स्तम्भः— ४१

वेद, अन्यशास्त्र—संहिता-शाखाएँ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र साहित्य, वेदांग-रामायण, महाभारत, पुराण, भारतीय दर्शन, श्रीमद्भगवद्गीता, मानव धर्मशास्त्र, पर्व-त्यौहार, श्री सत्यनारायण-व्रत-कथा।

४—भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति— ७८

ब्रह्मचर्य आश्रम और उपनयन संस्कार, भिक्षा-वृत्ति, गुरुकुल-पद्धति, पाठ्य विषय, पाठ्य प्रणाली, शिक्षा का आदर्श, तपोवन पद्धति।

५—भारतीय संस्कृति का आदर्श— ८६

ॐ श्री गुरु गोविन्दाय नमः।

६—आत्मा और ब्रह्म का बोधत्व— ९३

सुख-दुःख-निरूपण, जगत्, जीव और ब्रह्म, तत्वज्ञानोपदेश।

७—ईश्वर-प्रार्थना— १०३

रामनाम एवं प्रार्थना पर पूज्य महात्मा गाँधी के कुछ महत्त्वपूर्ण विचार सामूहिक प्रार्थना, प्रार्थना के कुछ मन्त्र।

८—शुभ आदेश १०८

वैदिक भारतीय धर्म-संस्कृति

भगवती भागीरथी गंगा के समान युगों से प्रवाहित होने-वाली हमारी वैदिक भारतीय धर्म-संस्कृति की धारा सम्पूर्ण मानवता को आत्मिक-उत्थान एवं उत्कर्ष के द्वारा आत्म-दर्शन और आत्म-शान्ति के मार्ग पर अग्रसर करती चली आई है। अपनी उत्कृष्ट विशेषताओं और मौलिक प्रवृत्तियों के कारण वह आज भी विश्व का पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ और सम्पन्न है। किन्तु सदियों तक रहनेवाले विदेशी शासन और प्रवृत्तियों के प्रभाव में रहने के कारण, आज का भारतीय मानव भी, जीवन के अखंड एवं सूक्ष्म रहस्यों का समाधान करके व्यक्ति को ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचानेवाली अपनी सर्व-कल्याणमयी संस्कृति की उपेक्षा करके अपनी आन्तरिक एवं वास्तविक पूर्णता को त्याग कर, अपने को सांसारिक पदार्थों में पूर्ण बनाने की चेष्टा में रत है। आत्मा के सात्विक गुणों तथा पराविद्या से सम्बद्ध भारतीय धर्म-संस्कृति के प्रति जन-समुदाय की इस उदासीनता के कारण आज के जन एवं सामाजिक जीवन में अशान्ति और असन्तोष के साथ ही अमंगल के अंकुर उत्तरोत्तर पनपते जा रहे हैं। परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण मानव-समाज धर्म-शून्य, ज्ञान-शून्य, चरित्र और आचरण-शून्य होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भारत की सच्ची आत्मा को जागरुक करने तथा वैदिक भार-तीय धर्म-संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार द्वारा जन-जीवन में नई चेतना उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही वैदिक भारतीय धर्म-संस्कृति

की यह परिचयात्मक पुस्तिका हम भारतीय समाज के सन्मुख उपस्थित कर रहे हैं और इसी उद्देश्य को कार्यरूप में परिणत करने के लिये भाद्रपद कृष्णपक्ष द्वितीया सं० २०१० तदनुसार दिनांक २६ अगस्त १९५३ को "अखिल भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान परिषद्" नामक संस्था की स्थापना की गई थी। सहिष्णुता और समन्वय के सुदृढ़ आधार पर धर्म और संस्कृति के उदार एवं व्यापक स्वरूप को जन-जीवन में प्रतिष्ठित करना ही संक्षेप में परिषद् का लक्ष्य है तथा मनुष्य के नैतिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करना ही उसका प्रधान कार्यक्षेत्र है।

परिषद् की ओर से पिछले वर्षों में निम्नलिखित महान् एवं विशेष आयोजन किये गये :—

१—अखिल भारतीय-शिक्षा-सम्मेलन :—

शिक्षा-सम्बन्धी रीति-नीति पर विचार करने तथा उसके प्रति जनता को जागरुक एवं सक्रिय बनाने के लिये परिषद् की ओर से अखिल भारतीय शिक्षा-सम्मेलन का आयोजन अमीनाबाद, झंडेवाले पार्क, लखनऊ में दिनांक १७-१८ तथा १९ फरवरी १९५४ को किया गया। सम्मेलन का उद्घाटन उत्तर प्रदेश की विधान सभा के अध्यक्ष माननीय श्री आत्माराम गोविन्द खेर ने तथा उसकी अध्यक्षता श्री १००८ स्वामी नारदानन्दजी सरस्वती (नैमिषारण्य) ने किया। इसका कार्य-संचालन, परिषद् के प्रधान मन्त्री श्री पं० वीरेन्द्र पाण्डेय, सम्पादक जनमत रानीकटरा लखनऊ ने किया और इस आयोजन के संयोजक होने का सौभाग्य मुझ रामदास मिश्र को प्राप्त था। शिक्षा-संबंधी इस त्रिदिवसीय सम्मेलन में भारत के अनेक

शिक्षा-विशेषज्ञों ने भाग लिया, अपने सन्देश भेजे तथा प्रतिदिन हजारों की संख्या में जनता सम्मिलित हुई। सम्मेलन द्वारा पास किये गये अनेक प्रस्तावों में सर्वप्रधान प्रस्ताव का संक्षिप्त सारांश यह है कि भारत के भावी नागरिकों के चारित्रिक तथा नैतिक सुधार के लिये यह आवश्यक है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आध्यात्मिक शिक्षा का समावेश किया जाय। दूसरे प्रस्ताव द्वारा देश में आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विश्वविद्यालयों की स्थापना पर सर्वसम्मति से जोर दिया गया।

२—उत्तर प्रदेशीय धर्माचार्य सम्मेलनः—

देश के इतिहास में इस प्रकार का आयोजन अपने ढंग का अनोखा था; इसकी प्रधान भूमिका का आयोजन परिषद् के प्रधान पदाधिकारियों द्वारा ही किया गया। इस संयोजन का एक मात्र उद्देश्य था कि अपनी मौजूदा संकीर्ण मान्यताओं से बाहर आकर देश के सभी धर्माचार्य (चाहे वे किसी मत या पन्थ के हों) समय और राष्ट्र की माँगों का अनुभव करें। राष्ट्र तथा संस्कृति के पुनरुद्धार एवं संरक्षण के लिए एक सर्वमान्य कार्यक्रम की योजना बनावें तथा अपने-अपने क्षेत्र में उसे क्रियात्मक रूप दें। इस सम्मेलन के संयोजन का भार परिषद् के संरक्षक पूज्य श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वतीजी, (नैमिषारण्य) ने वहन किया। परिषद् के कार्यकर्त्ताओं ने सम्मेलन का प्रबन्ध तथा परिषद् के प्रधान मंत्री श्री वीरेन्द्र पाण्डेय ने उसका नीति-रीति-सम्बन्धी बौद्धिक संचालन किया। उक्त सम्मेलन २५ अप्रैल से १ मई सन् १९५४ तक कला कोठी चौक लखनऊ में हुआ। इसमें भाग लेने वाले सक्रिय

सहयोगियों में श्री १०८ स्वामी सच्चिदानन्दाश्रम ऋषीकेश, १०८ स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती काशी, श्री १०८ श्री रामपदार्थजी वेदान्ती अयोध्या, श्री १०८ स्वामी कपिल देवाचार्य बिजनौर, श्री १०८ श्री महन्त भगवानदास त्रिवेदी, कबीर-मन्दिर बसहा (लखनऊ) परिषद् के उपसभापति श्री पं० ज्वालाप्रसाद वाजपेयी, एम. ए. एल. टी. प्रिंसिपल-कान्यकुब्ज कालेज, कानपुर आदि थे।

३— श्री लक्ष्मीनारायण-महायज्ञ

लोक-कल्याणार्थ एवं विश्वशान्ति के लिये अखिल भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान परिषद् के तत्वावधान में श्री लक्ष्मीनारायण महायज्ञ का आयोजन संवत् २०११ तदनुसार १५ जनवरी से २१ जनवरी १९५५ तक स्थान अन्नपूर्णा-मन्दिर, सआदतगंज लखनऊ में हुआ, इसकी अध्यक्षता परिषद के परामर्श दाता श्री १०८ स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वतीजी महाराज महंत गद्दी श्री स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती गंगा महल मठ, मुंशी घाट, काशी ने किया तथा इसका संचालन परिषद के सभापति श्री १०८ स्वामी कपिलदेवाचार्यजी महाराज शक्ति आश्रम बिजनौर ने किया। उक्त महायज्ञ में पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय अनंत श्री विभूषित श्री १००८ श्री जगद्गुरु शंकराचार्य श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज भी पधारे थे इनके अमृतमय उपदेश को सुनकर अपार जन समूह ने लाभ उठाया। इनके अतिरिक्त श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज नैमिषारण्य, यज्ञाचार्य श्री पं० वेणीराम शर्मा वेदाचार्य, काशी आदि अनेक संत महात्मा नेता विद्वान् उक्त अवसर पर पधारे

थे। नित्य ही अपार जन-समूह इसमें सम्मिलित होता था।

प्रायोगिक तथा रचनात्मक कार्य :—

अखिल भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान परिषद् के प्रस्तावित कार्य-क्षेत्र में प्रायोगिक अनुसंधान तथा ठोस रचनात्मक कार्यों को प्रधानता दी गई। परिषद् की सभी योजनाएँ इसी पर आधारित भी हैं। परिषद् देव-स्थानों को उपासना - केन्द्रों के साथ ही सांस्कृतिक तथा नैतिक शिक्षा का प्रसार-केन्द्र भी मानता है। अत: ध्वस्त देव-स्थलों का पुनः निर्माण करके उन्हें सांस्कृतिक और नैतिक आदर्शों की शिक्षा-दीक्षा के केन्द्र के रूप में सुसज्जित करना, विभिन्न स्थानों पर विद्यापीठों और छात्रावासों के लिये अपने 'प्रयोग-केन्द्रों की स्थापना आदि करना परिषद् के प्रमुख प्रस्तावित कार्यों में से हैं। परिषद् का प्रारंम्भिक प्रयोग-केन्द्र श्री ज्ञानेश्वर मठ, आनन्दी घाट (लक्ष्मण टीले के निकट) चौक लखनऊ है। यहाँ के ध्वस्त और सदियों के उपेक्षित शिव - मन्दिर के कायाकल्प का व्रत लेकर परिषद् ने अपना प्रथम प्रयोग प्रारम्भ किया, परिषद् द्वारा आयोजित समारोह में सर्वप्रथम परिषद् के संरक्षक श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वती द्वारा मन्दिर में स्थापित भगवान शंकरजी की मूर्ति का नामकरण 'श्री ज्ञानेश्वर महादेव' किया गया और उसी समय वहाँ उन्हीं के द्वारा 'ज्ञानेश्वर मठ' का शिल्यान्यास भी किया गया। और बाबा रामशंकर 'आजाद' को मठ का महन्त नियुक्त किया गया। 'श्री ज्ञानेश्वर मठ' के अन्तर्गत सांस्कृतिक-विश्वविद्यालय के रूप में आध्यात्म हिन्दी विद्यापीठ, हिन्दी भवन, और चरित्र एवं अनुशासन के महान

आदर्श श्री लक्ष्मण जी के पुण्यस्मारक आदि के निर्माण का संकल्प किया गया।

परिषद् के उपमंत्री श्री पं० रामसेवक शुक्ल (फर्रुखाबाद) का यह प्रस्ताव कि परिषद् का प्रधान केन्द्रीय कार्यालय लखनऊ के बजाय काशी में रखा जाय; परिषद की कार्य-कारिणी द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत कर लिया गया और प्रधान केन्द्रीय कार्यालय की यथोचित व्यवस्था करने के लिये परिषद् के उपमन्त्री श्रीबजरंगबली गुप्त, विशारद, अध्यक्ष साहित्य-सेवक-कार्यालय, श्रीसीताराम प्रेस जालिपादेवी काशी (वाराणसी) को नियुक्त किया गया।

लोक-कल्याण-प्रकाशन—सत् साहित्य के सृजन तथा उसके प्रचार-प्रसार के लिये परिषद् अपने अन्तर्गत 'लोक-कल्याण-प्रकाशन' नामक संस्था का संचालन भी करती है। 'शुभ-आदेश' नामक लोक-कल्याण की प्रथम पुस्तिका गत वर्ष प्रकाशित की जा चुकी है।

विगत वर्षों से परिषद के द्वारा किये गये विभिन्न कार्यों का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। जो महानुभाव परिषद् के उद्देश्यों एवं कार्यों से सहमत हों अथवा जो उसके सदस्य बनकर उसके सत्कार्यों में सहयोग देना चाहते हों। वे निम्नलिखित पते पर मिलकर या पत्र-व्यवहार करके विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

रामदास मिश्र

संगठन-प्रबन्ध-मन्त्री,

अ० भा० सांस्कृतिक पुनरुत्थान परिषद हिन्दी-प्रचारक-मण्डल कैलाशभवन, घसियारी मंडी, लखनऊ।

वैदिक भारतीय धर्म-संस्कृति

१—वैदिक धर्म की विशेषताएँ

(१) वैदिक धर्म की पहली विशेषता है कि यह ईश्वरीय ज्ञान है और किसी एक व्यक्ति, जाति या देश-विशेष के लिये इसका आविर्भाव नहीं हुआ किन्तु यह सार्वभौम धर्म है और आदि सृष्टि में चार ऋषियों द्वारा सर्व संसार के कल्याणार्थ इसका प्रकाश हुआ। आदि सृष्टि में इसलिये कि कोई मनुष्य इसके लाभ से वंचित न रह जाय जिससे ईश्वर पर पक्षपात तथा अन्याय का दोष न आये। अतः यह प्रत्येक प्रकार के भेद-भाव या फिरकादारी से उच्चतर होकर मनुष्यमात्र को मनुष्य बनने की प्रेरणा करता है और आदेश देता है कि (मनुर्भव) अर्थात् मनुष्य बन, इसी में तेरा कल्याण होगा।

(२) वैदिक धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि यह ईश्वर से सीधा सम्बन्ध बताता है। इसमें किसी पीर, पैगम्बर, औलिया, साधु-सन्त महात्मा की सिफारिश की आवश्यकता नहीं किन्तु तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽय-नाय, का सुन्दर उपदेश है कि हे संसार के लोगो उसी परमात्मा को जानकर ही तुम मृत्यु के भय से बच सकते हो, उस परमात्मा को जाने बिना और कोई कल्याण का मार्ग नहीं। कई सज्जनों का विचार है कि जैसे राजा आदिकों से मिलने

के लिये बीच के किसी अच्छे हाकिम की सिफारिश तथा उनसे आज्ञा की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही ईश्वररूपी राजा से मिलने के लिये भी साधु-सन्तों पीर-पैगम्बरों आदि का सहारा या सिफारिश जरूरी है। पर जिस प्रकार राजा का बेटा बिना किसी की सिफारिश के ही सीधे अपने पिता से जा मिलता है उसे कोई मिलने से रोक नहीं सकता उसी प्रकार ईश्वर हमारा सच्चा पिता है और हम उसके प्यारे पुत्र। पिता और पुत्र में मिलाप के लिये किसी तीसरे की आवश्यकता नहीं, इसलिये वेद कहता है—'त्वं हि नः पिता वसो, त्वं माता च शतक्रतो वभूविथ, अथाते सुम्नमीमहे' अर्थात् हे सबको वास देने वाले प्रभु आप ही हमारे सच्चे पिता और आप ही हमारी कल्याणकर्तृ सच्ची माता हैं। इसलिये हम तेरी शरण चाहते हैं।

(३) वैदिक धर्म की तीसरी विशेषता यह है कि यह नगैद धर्म है जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। रत्ती कम न माशा ज्यादा, वेद क्या ही सुन्दर कहता है कि अनुलं नं निहितं पात्रमेतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशाति' अर्थात् मनुष्य के कर्मों का पात्र उसके सामने रखा है जिसमें किसी प्रकार की न्यूनता-अधिकता नहीं अथवा किसी अन्य का हस्तक्षेप नहीं। मानव जो कुछ उसमें डाल कर पकायेगा वही उसको प्राप्त होगा उसमें थोड़ी भी अदला-बदली न होगी, मनु महाराज ने भी कहा है कि 'न पुत्र दारा साहाय्यार्थं न पिता माता च तिष्ठतः न पुत्र दारास्तिष्ठन्ति धर्मस्तिष्ठति केवलः। एकः प्रजापते जन्तुरेक एवं प्रलीयते एकोनु भुंक्ते सुकृतमेक एवं च दुष्कृतम्

अर्थात् परलोक में माता - पिता स्त्री - पुत्र - सम्बन्धी कोई भी सहायक नहीं हो सकता यदि कोई साथ देता भी है तो केवल धर्म ही, अकेला ही प्राणी उत्पन्न होता है और अकेला ही नाश को प्राप्त होता है तथा अकेला ही अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों के फल का उपभोग करता है। वैदिक धर्म इस नियम द्वारा सबको सावधान करता है और बुरे कर्मों से हटाकर सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता है। यही इसकी तीसरी विशेषता है।

(४) वैदिक धर्म की चौथी विशेषता यह है कि यह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य जन्म का पूरा प्रोग्राम उप-स्थित करता है और वह है आश्रम - धर्म यानी प्रथम २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन तथा कठिन तपस्या करते हुए शारीरिक, आत्मिक विकास प्राप्त करना, पुनः विवाह करके पच्चीस वर्ष पर्यन्त शुभ कर्म करते हुए तथा उत्तम सन्तानो-त्पत्ति द्वारा देव-ऋण, ऋषि-ऋण तथा पितृ-ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करना। इसके पश्चात् २५ वर्ष तक वान-प्रस्थाश्रम धारण करके तपोमय जीवन व्यतीत करना, तथा गृहस्थ में खोई हुई शक्तियों को पुनः प्राप्त करते हुए देश के बच्चों को शिक्षा के भूषण से भूषित करना। जीवन के अन्तिम भाग में संन्यासी बनकर 'अयं निजः परोवेति, अर्थात् यह अपना है यह पराया है इस भाव को छोड़कर संसार के लाभ तथा उपकार में अपना जीवन लगा देना, ऐसा क्रमबद्ध प्रोग्राम जिसके द्वारा मनुष्य क्रमशः उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ होता जाय और अपने अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त करले, वैदिक धर्म में ही है।

(५) वैदिक धर्म की पाँचवीं विशेषता है कि यह संसार की व्यवस्था को स्थिर रखने के लिये अथवा दुनिया के निजाम को भली भांति सुचारु रूप से चलाने के लिये वर्ण-धर्म की व्यवस्था करता है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र द्वारा क्रमशः शिक्षा, रक्षा, जीविका कारीगरी सेवा आदि के जीवनोपयोगी साधनों को विकसित करने का उपाय बतलाता है। और मानव-समाज के शत्रु अज्ञान, अन्याय, अभाव के विरुद्ध ऐसी सेना तैयार करता है जिसका कभी पराभव न हो सके।

(६) वैदिक धर्म की छठीं विशेषता है कि यह हर बात को तर्क तथा बुद्धि की कसौटी पर परख कर ही मानने की प्रेरणा करता है। अन्धा-धुन्ध या अन्धविश्वास से नहीं, इसलिये वेद में स्थान-स्थान पर बुद्धि की प्रार्थना गई है जैसे कि यथा धियो यो नः प्रचोदयात् , तथा मां मेधां देवगणाः पितरश्चोपास्ते। अतः बुद्धि-विरुद्ध जितनी भी बातें हैं वैदिक धर्म उनका खण्डन करता है।

(७) वैदिक धर्म की सातवीं विशेषता है कि यह किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं। जैसे कि बौद्ध मत से महात्मा बुद्ध को, पारसी मजहब से हजरत जरदुस्त को, इसलाम मत से हजरत मुहम्मद साहब को, ईसाई मत से ईसा मसीह को निकाल दिया जावे तो इनमें से किसी भी मजहब का ढांचा स्थिर नहीं रह सकता।

(८) वैदिक धर्म की आठवीं विशेषता यह है कि वैदिक धर्म मनुष्य का मुख्य उद्देश्य जो कि मुक्ति है उसका सत्य स्वरूप

तथा उसके ठीक-ठीक साधन बतलाता है। स्वर्ग, नरक बिहिश्त (स्वर्ग) दोजख (नरक) हूरो गिलमात के खयाली मन्सूबों के भ्रम को दूर करता है।

(९) वैदिक धर्म की नवीं विशेषता यह है कि संसार में जितने भी मत-मतान्तर हैं उनका आदि स्रोत यही है क्योंकि विश्व के सब इतिहासज्ञ-विद्वान् इस बात में एक मत हैं कि संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद ही है। अतः जो भी सत्य सिद्धान्त किसी के पास हैं वह इसी धर्म से ही लिये गये हैं।

(१०) वैदिक धर्म की दसवीं विशेषता यह है कि यह ईश्वर का ऐसा सुन्दर और सत्य स्वरूप लोगों के समक्ष रखता है कि आज तक कोई सम्प्रदाय ईश्वर का वैसा स्वरूप वर्णन नहीं कर सका। —वेद-प्रचार-मंडल के चौथे पुष्प से संकलित।

२—ईश्वर के विषय में वैदिक भारतीय समाज के सिद्धान्त

(१) ईश्वर एक है, कई ईश्वर नहीं हैं।

(२) ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। वह सब कुछ जानता है और छोटी से छोटी चीज के भी भीतर और बाहर मौजूद है।

(३) ईश्वर सर्व-शक्तिमान् है। अर्थात् वह अपने किसी काम के करने के लिये आँख, नाक आदि शरीर या अन्य किसी औजार की जरूरत नहीं रखता। जो कुछ करता है बिना किसी चीज या आदमी की सहायता के करता है।

(४) वेदान्त का ज्ञान यहीं से प्रारम्भ होता है। इस 'मैं' का आधार क्या है अर्थात् यह कि इस 'मैं' की उत्पत्ति

कहाँ से हुई ? वेदान्त कहता है कि इस 'मैं' का आधार नित्य कूटस्थ एवं सर्वव्यापी ब्रह्म है। उसी सर्वव्यापी ब्रह्म से इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भी, सब उसी में होता है श्री गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी रामायण में लिखते हैं कि-
व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंदरासी॥ आदि अंत कोइ जासु न पावा। मति अनुमान निगम जसु गावा॥ बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना। आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वकता बड़ जोगी। तन बिनु परस नयन बिनु देखा॥ ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा। अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा तासु जाय किमि बरनी॥ एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा। व्यापक विस्व रूप भगवाना॥ हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥ देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने कहा है—

(५) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्व शक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है।

(६) योग-दर्शन में ईश्वर का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। पातंजलि के अनुसार—

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः विशेषः ईश्वरः

योग के अनुसार जो क्लेश अर्थात् दुःख एवं कर्म तथा कर्म फलों से अलग रहे। तथा जो उसके संस्कार के सम्पर्क से भी न लिप्त हो उसे ही ईश्वर कहा है।

(७) महात्मा गांधी ने कहा है—

सत्य ही ईश्वर है, और इसे मैं मूक जनता के हृदय में पाता हूँ। मैं उसी की सेवा करता हूँ।

(८) पूज्य पं० मदनमोहन मालवीयजी ने लिखा है कि हमारी बुद्धि विवश होकर इस बात को स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानात्मिका रचना का कोई आदि, सनातन, अज, अविनाशी, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, जगत्-व्यापक, अनन्तशक्ति सम्पन्न रचयिता है। उसी एक अनिर्वचनीय शक्ति को हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान, वासुदेव, शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गाड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्र नामों से पुकारते हैं।

(९) वह परमात्मा एक ही है—

'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य० ६ । २ । १)

'एकं शब्दिता बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद २।३।२२।४६)

'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'।

एक ही परमात्मा है, कोई उसका दूसरा नहीं। एक ही को विप्र लोग बहुत से नामों से वर्णन करते हैं। है एक ही, किन्तु उसको बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं। विष्णु सहस्र नाम और शिवसहस्र नाम इस बात के प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

(१०) उसी एक की तीन संज्ञा हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये उसी एक परमात्मा की तीन संज्ञा अर्थात् नाम हैं। विष्णु

पुराण में लिखा है कि—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणी ब्रह्माविष्णुशिवाभिधाम् ।
स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥ (१।२।६६)

वे एक ही जनार्दन भगवान् सृष्टि, पालन और संहार करनेवाली ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव नाम की तीन संज्ञा प्राप्त करते हैं। यही बात बृहन्नारदीय पुराण में लिखी है।

नारायणोऽक्षरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम् ।
केचिद्विष्णु सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदूचिरे ॥ (१।२।२।५)

भगवान नारायण अविनाशी, अनन्त, सर्वत्र व्यापक तथा माया से अलिप्त हैं, यह स्थावर - जङ्गमरूप सारा संसार उनसे व्याप्त है। उन जरारहित आदि देवता को कोई शिव, कोई सदा सत्य स्वरूप विष्णु और ब्रह्मा कहते हैं।

इसी प्रकार शिवपुराण में स्वयं महेश्वर का वचन है—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहराख्यया ।
सर्गरक्षालयगुणैः निष्कलोऽयं सदा हरे ॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति ।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत् ॥(२।१।९।२८,३८)

सृष्टि, पालन तथा संहार—इन तीन गुणों के कारण मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामक तीन भेद से युक्त हूँ। हे हरे, वास्तव में मेरा स्वरूप भेदहीन है। मैं, आप विष्णु यह ब्रह्मा तथा रुद्र औरआगे जो कोई भी होंगे, इन सब का एक ही रूप है, उनमें कोई भेद नहीं है, भेद मानने से बन्धन होता है।

भागवत में भी स्वयं भगवान् का वचन है ।

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ।।
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ।।(४-७-५०-५१)

हम, ब्रह्मा और शिव संसार के परम कारण हैं, हम सबके आत्मा ईश्वर, साक्षी, स्वयं प्रकाश और निर्विशेष हैं। हे ब्राह्मण ! वह मैं (विष्णु) अपनी त्रिगुणमयी माया में प्रवेश करके संसार की सृष्टि, रक्षा तथा प्रलय करता हुआ भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार नाम धारण करता हूँ। इसीलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनको भिन्न-भिन्न मानना भूल है। ये एक ही परमात्मा की तीन संज्ञा हैं।

शिवपुराण में भी लिखा है—

शिवो महेश्वरश्चैव रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
संसार वैद्यः सर्वज्ञः परमात्मेति मुख्यतः ।।
नामाष्टकमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम् । (६ । ९ । १-२)

शिव, महेश, रुद्र, विष्णु, पितामह, (ब्रह्मा) संसार-वैद्य, सर्वज्ञ और परमात्मा—ए आठ नाम मुख्य रूप से शिव के बोधक हैं। इसलिये यह स्पष्ट है 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' ॐ नमो नारायणाय, ॐ नमः शिवाय, श्रीरामाय नमः, श्रीकृष्णाय नमः–ये सब मन्त्र एक ही परमात्मा की वन्दना हैं।

(११) उस परमात्मा का क्या रूप है ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' (तैत्ति० २।१।१)

वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप एवं अनन्त है ।

भागवत में भी लिखा है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यकसम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमव्ययम् ॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः । (२।६।३९-४०)
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥ (३।३२।२६)

ब्रह्म सत्य है, सदा रहा है, है भी, रहेगा भी। वह ज्ञानमय, चैतन्य और आनन्द स्वरूप है। उसका स्वयं शरीर नहीं है, किन्तु विनाशवान् शरीरों में पैठकर वह संसार की लीला कर रहा है। वह केवल निर्मल ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण है, उसका आदि नहीं, अन्त नहीं। वह नित्य और अद्वितीय है। एक होने पर भी अनेक रूपों में दिखाई देता है।

(१२) यह ब्रह्म कहाँ है ?

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
(श्वेता० ६ । ११ ।)

एक ही परमात्मा सब प्राणियों के भीतर छिपा हुआ है, सबमें व्याप रहा है, सब जीवों के भीतर का अन्तरात्मा है, सब प्राणियों के भीतर बस रहा है, सब संसार के कार्यों का साक्षी रूप में देखनेवाला, चैतन्य, केवल, एक, जिसका कोई जोड़ नहीं और जो गुणों के दोष से रहित है। वेद, स्मृति, पुराण कहते हैं कि यह—देवों का देव अग्नि में, जल में, वायु में सारे भुवन में, सब औषधियों में, सब वनस्पतियों में, सब जीवधारियों में व्याप रहा है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
(बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ५ । १ । १)

वह सच्चिदानन्द घन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदा-सर्वदा परिपूर्ण है । यह जगत भी उस परब्रह्म से पूर्ण ही है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत् पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है । उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बच रहता है ।

जीव के विषय में

(१) जीव चेतन है । उसकी संख्या अनन्त है ।

(२) जीव न कभी मरता है न पैदा होता है । अर्थात् कभी ऐसा समय नहीं हुआ जब जीव न रहा हो और न कभी ऐसा समय ही आवेगा कि जब जीव न रहेगा ।

(३) जीव में ज्ञान तो है पर थोड़ा, और शक्ति भी थोड़ी है, इसलिये जीव को अल्पज्ञ कहते हैं ।

(४) जीव शरीर धारण करता है । कभी मनुष्य का, कभी पशु का, और कभी कीड़े-मकोड़े आदि का ।

(५) जीव जैसा कर्म करता है उसको उसके फल के अनुसार वैसा ही शरीर मिलता है । बुरे कर्म के लिये बुरी योनि और अच्छे कर्म के लिये अच्छी योनि मिलती है, इसी को जीव अवतार कहते हैं ।

(६) जीव जब अच्छे कर्म करते-करते सबसे ऊँची अवस्था को पहुँच जाता है तो उसे मोक्ष मिल जाता है अर्थात्

शरीर नहीं रहता और वह स्वतंत्र विचरता हुआ ईश्वर के आनन्द में मग्न रहता है।

(७) मोक्ष ३१ नील १० खर्व ४० अर्व वर्ष के लिये माना गया है। इसके पश्चात् जीव मोक्ष से लौटता है और उत्तम ऋषियों का शरीर धारण करता है। इस शरीर में यदि जीव अच्छे काम करता है तो फिर मुक्त हो जाता है और यदि बुरे कर्म करता है तो नीचे की योनियों का चक्र आरम्भ हो जाता है।

(८) जीव के विषय में श्रीतुलसीदासजी का कहना है कि—ईश्वर अंश जीव अविनासी।

प्रकृति के विषय में

(१) प्रकृति छोटे-छोटे परमाणुओं का नाम है।

(२) यह परमाणु, जड़ है। इनमें ज्ञान नहीं।

(३) यह परमाणु अनादि और अनन्त है। अर्थात् न कभी उत्पन्न हुए न नष्ट हुए।

(४) ईश्वर इन्हीं परमाणुओं को जोड़कर सृष्टि बनाता है। आग, पानी, और पृथ्वी, यह इन्हीं परमाणुओं के संयोग का फल है। सूर्य, चाँद आदि भी इन्हीं से बने हैं हमारे शरीर भी इन्हीं परमाणुओं से बने हैं।

(५) जब परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं तो उसको प्रलय या ब्रह्मरात्रि कहते हैं। जब सृष्टि बनी रहती है तो ब्रह्म दिन होता है।

(६) वैशेषिक दर्शन के निर्माता कणाद के अनुसार इस

विश्व का मूल पदार्थ परमाणु ही है। किसी वस्तु के सबसे सूक्ष्म भाग का नाम अणु है तथा अणु से भी जो सूक्ष्म है उसे ही परमाणु कहते हैं परमाणुओं के संयोग से ही पृथ्वी तथा पृथ्वी के सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई है।

कणाद् के अनुसार नव द्रव्य हैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, और मन। इन नवों द्रव्यों के परमाणुओं को कणाद ने नित्य और अनित्य दोनों माना है। कणाद् का वैशेषिक दर्शन भारतीयों का प्राचीन भौतिक विज्ञान है इसमें प्रत्येक वस्तु को भौतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से व्याख्या की गई है।

(७) कपिल के सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार इस विश्व की उत्पत्ति पच्चीस तत्वों से ही हुई है। ए पच्चीस तत्व हैं। पाँच महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इनके अलावा अहंकार, बुद्धि तथा प्रकृति। पाँच ज्ञानेन्द्रिय—जैसे आँख, नाक, जीभ, त्वचा, कर्ण, तथा पाँच कर्मेन्द्रिय वाक्, हाथ, पैर, गुदा, और लिङ्ग, मन भी एक प्रमुख इन्द्रिय है। फिर पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को विचरने के लिये उसके पाँच विषय या क्षेत्र प्रस्तुत रहते हैं। पृथ्वी का विशेष गुण गन्ध है। जिसे ग्रहण करने के लिये हम लोगों का घ्राणेन्द्रिय यानी नाक है अर्थात् पृथ्वी से निकलनेवाली नाना प्रकार की सुगन्ध या दुर्गन्ध को हम लोग घ्राणेन्द्रिय नाक द्वारा ही जान सकते हैं।

जल के विशेष गुणों को ग्रहण करने के लिये रसना या जीभ है। तेज के विशेष गुणों को ग्रहण करने के लिये नेत्र है वायु का विशेष गुण ग्रहण करने के लिये स्पर्शेन्द्रिय या त्वचा

है, कर्ण के द्वारा हम लोग आकाश तत्व को ग्रहण करते हैं। इसके अलावा सांख्यशास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण खोज प्रकृति और पुरुष की है। प्रकृति और पुरुष की कल्पना सांख्यशास्त्र की बहुत ही व्यावहारिक हुई है क्योंकि हम लोग देखते हैं कि समस्त चराचर के प्राणिमात्र दो भागों में विभक्त है अर्थात् स्त्री और पुरुष के रूप में। दोनों के संयोग से हो सृष्टि का व्यापार अनवरत गति से प्रवाहित हो रहा है।

प्रकृति के तीन गुणों के सम्मिश्रण से ही विश्व के समस्त जड़ और चेतन पदार्थ बने हैं। और वे हैं सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ये ही प्रकृति के स्वाभाविक गुण है। सतोगुण प्रीतिरूप तथा सबका प्रकाशक है। रजोगुण दुःखात्मक चंचल तथा कर्म प्रवर्त्तक है। तमोगुण मोहरूप आलस्य तथा निन्द्रा उत्पादक है।

सांख्य के अनुसार सृष्टि जिस मूल तत्व से उत्पन्न होती है विनाश होने पर उसी में सूक्ष्म रूप से मिलकर रहती है।

जैसे कि वृहद् वृक्ष का स्वरूप उसके बीज रूप में केन्द्रीभूत होकर चला जाता है तथा उसे देखकर कोई सहज ही अनुमान नहीं कर सकता कि इस बीज में वृहद् वृक्ष का स्वरूप निहित है।

इसी प्रकार सृष्टि का प्रत्येक कार्य सूक्ष्म से स्थूल तथा स्थूल से सूक्ष्म होता रहता है।

जगत् उत्पत्ति के विषय में

मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) के प्रणेता श्रीमनुजी महाराज ने मानव धर्मशास्त्र के प्रथम अध्याय में ही जगत् उत्पत्ति के विषय में कहा है:—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले प्रलय में अन्धकार आवृत्त = आच्छादित था । उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था। अर्थात् सर्वत्र सोया सा पड़ा था ।

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥

तब प्रलय के पश्चात् स्वयम्भू भगवान जो कि अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं है, आकाशादि पंच महाभूतों तथा महदादि तत्वों की सृष्टि करने में (जगत् के आदि में अव्यक्तावस्था से उन्हें व्यक्तावस्था में लाने में) समर्थ हैं वह तमा रूपी इस प्रकृति को प्रेरित = संचालित करनेवाला परमात्मा इस जगत को अप्रकटावस्था से प्रकटावस्था में लाता हुआ स्वयं प्रकाशित हुआ ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

जल और जीवों का नाम नारा है वे अयन अर्थात् निवास स्थान है जिसका (वह नारायण) इसलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम (नारायण) है ।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

उस नारायण परमात्मा ने वेद के शब्दों से ही सबके अलग-अलग नाम और काम निश्चित किये तथा पृथक्-पृथक

विभाग (संस्था) बनाये ।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम ॥
अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥

ब्रह्मा ने यज्ञ-सिद्धि अर्थात् मनुष्य-मनुष्य जीवन की सफलतार्थ अग्नि, वायु, तथा आदित्य इन ३ ऋषियों से ऋग्, यजुः और साम, नाम के ३ सनातन (सदा रहनेवाले) वेदों को दुहा = खींचा, प्राप्त किया। एवं आंगिरस् (अथर्व) के विद्वान ज्ञाता बालक (छोटी आयु के) आंगिरस् ऋषि ब्रह्मा आदि पितरजनों को आंगिरस् ने (अथर्व वेद) पढ़ाया और इन प्रकार इन्हें शिष्य बना ज्ञान के कारण से उनको पुत्र कह कर पुकारा ।

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टिवन्तः प्रजाः स्वा स्वा महात्मानो महौजसः ॥

स्वयंभू परमात्मा द्वारा निर्मित इस प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर के अनन्तर छः मन्वन्तर और उसी प्रकार के हुए। उन बड़े आत्मा = शरीर = समय वाले तथा महाशक्तिवाले मन्वन्तरों ने अपनी-अपनी सृष्टि की अर्थात् उनकी प्रत्येक की सृष्टि में कुछ-कुछ भेद-परिवर्तन होता रहा है। (मन्वन्तर के बदलने पर सृष्टि के नैमित्तिक गुणों में भी कुछ-कुछ परिवर्तन हो ही जाता है इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा (नाम) की है ।

स्वारोचिषश्चौत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥

वे छः मन्वन्तर क्रमशः स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष, और महातेजस्वी वैवस्वत हुए हैं।

सावर्ण्याद्यास्तु सप्तान्ये मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥

तदनन्तर सावर्णि आदि सात और अत्यन्त तेजस्वी मन्वन्तर होते हैं जो अपने-अपने अन्तर समय में इस चर और अचर जगत् को उत्पन्न करके पालन करते हैं।

धर्म संस्कृति के विषय में

धर्म चार प्रकार के माने गये हैं—वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, सामान्य धर्म और साधन धर्म। श्री महाराज मनु कहते है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (२।१२)

जो वेद और स्मृति के द्वारा प्रतिपादित, सत्पुरुषों के द्वारा आचरित और अपने को प्रिय लगने वाला हो—ऐसा चार प्रकार का धर्म माना गया है। धर्म के लक्षण बतलाते हुये महाराज मनुजी कहते है।

धृतिः क्षमा, दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यम क्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥ (६।९२)

धृति, क्षमा, दम, (मनका संयम) अस्तेय (चोरी न करना) शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, (विज्ञान) विद्या, सत्य और अक्रोध, ये दस धर्म के लक्षण है।

श्रीमद्भागवत् में इस मानव धर्म को तीस लक्षणों से बतलाया गया है।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमों दमः।

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेक्षा मौनमात्मीवर्शनम् ।
अन्नद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनीतर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्म सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशाल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, निष्कपटता, सन्तोष, समदृष्टि, महापुरुषों की सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्ति, मनुष्य के अभिमानपूर्ण प्रयत्नों का फल विपरीत होता है। — ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, अन्न आदि पदार्थों का प्राणियों में यथायोग्य विभाजन, सभी प्राणियों को — विशेष करके मनुष्यों को आत्मरूप और इष्टदेव ही समझना, भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, और स्मरण करना, संतों महात्माओं की सेवा-पूजा (प्रणाम-नमस्कार) आदि उनके प्रति श्रद्धा, सम्मान करना। यह सभी मनुष्यों के लिये धर्म हैं। महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं कि —

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

महाभारत में बताया गया है —

धर्मः सतां हितः पुसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।

धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥

धर्म ही सत्पुरुषों का हित है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म ही से चलते हैं।

वाल्मीकि रामायण में लिखा है—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥

(अयोध्या० २१।५,५८)

धर्म के फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादि की प्राप्ति में जो धर्म, अर्थ, काम, उपाय माने गये हैं वे तीनों एक धर्म में वर्तमान हैं। धर्म के अनुष्ठान से इन तीनों की सिद्धि होती है। इसमें मुझे सन्देह नहीं है—जैसे पति के आधीन रहने वाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्म में, मनोऽनुकूल होने से काम में और सुपुत्रवती होकर अर्थ में सहायिका होती है। जिस कर्म में धर्म, अर्थ, काम—तीनों संनिविष्ट न हों, पर जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। धर्म को छोड़ कर अर्थ-परायण रहने वाले से लोग द्वेष करने लगते हैं और ऐसे ही कामात्मता भी प्रशंसा की बात नहीं है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि—

तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुत स्त्रयीमयः।
ततोऽर्थ कामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः॥

(श्रीमद्भागवत ११।८।४५)

जब धर्म लुप्त हो जाता है, तब अर्थ और काम में फँसे हुये लोग कुत्तों और बंदरों के समान वर्णसंकर हो जाते है। अर्थात् केवल अर्थ और काम से युक्त जीवन तो पशु-जीवन ही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यानी कि हमारा अर्थ और काम (उपभोग) धर्म के द्वारा संयमित-नियन्त्रित होता है। धर्म रहित अर्थ और धर्म रहित उपभोग (काम) महान् अनर्थ उत्पन्न कर मनुष्य का विनाश कर देते हैं। महाराज मनुजी कहते है—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

जो अर्थ और काम धर्म के विरोधी है उन अर्थ और काम का त्याग कर देना चाहिये।

धर्म ही मनुष्य का आधार है, धर्म ही जीवन है और धर्म ही मरने पर साथ जाता है। महाराज मनुजी बताते हैं—

नामुत्रहि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न जातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एवं प्रलीयते।
एको नु भुङ्क्ते सुकृत मेक एव च दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरीत दुस्तरम् ॥

(मनुस्मृति ४।२३९-२४२)

पिता, माता, पुत्र, स्त्री, और जाति वाले ये परलोक में सहायता नहीं करते केवल एक धर्म ही सहायक होता है। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही पुण्य-पाप का भोग करता है।

भाई-बन्धु तो मरे शरीर को काठ और मिट्टी के ढेले की तरह पृथ्वी पर छोड़ कर वापस लौट आते हैं; केवल धर्म ही प्राणी के पीछे-पीछे जाता है। अतएव परलोक की सहायता के लिए प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा धर्मसञ्चय करे। क्योंकि मनुष्य धर्म की सहायता से कठिन नरकादि से तर जाता है। इसलिये धर्माचरण में यदि आरम्भ में कुछ कठिनता प्रतीत हो तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये।

वर्ण–धर्म

अपने-अपने कर्मों के अनुसार भगवान् के विधान से जीव को जिस वर्ण में (या जिस योनि में) जन्म ग्रहण करना पड़ता है, उसके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वही, अपने कर्म, (स्वकर्म) हैं। वर्ण-धर्म में सबके लिये पृथक्-पृथक् रूप से कर्म नियत हैं। वर्ण-धर्म के अनुसार जिस वर्ण या जाति की जो पैतृक आजीविका है, उसी को अपना कर उसी में संतुष्ट रहना और उससे जो कुछ उपार्जन हो, यथा योग्य रीति से समाज में वितरण कर देना उसका कर्तव्य है। जन्म से ही वृत्ति नियत होने से न तो किसी में कभी प्रतिस्पर्धा का भाव आता

है, न कोई किसी की वृत्ति छीनने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त, वंशपरम्परा से आजीविका के जो साधन चले आते हैं। स्वाभाविक ही उनमें उस वंश के लोग निपुण हो जाते हैं। उनके रक्त-मांस में उसके भाव भरे रहते हैं। इससे उनका कार्य बहुत ही सुन्दर और सुचारु रूप से सम्पन्न होता है।

वर्णों में न तो आत्मा की दृष्टि से कोई भेद है और न कर्म भेद से उनमें कोई छोटा-बड़ा है। अपने-अपने स्थान पर विशिष्ट उपयोगिता है। ब्राह्मण ज्ञानबल से, क्षत्रिय बाहुबल से, वैश्य धनबल से और शूद्र श्रमबल से गौरवशाली है। यही इनका स्वधर्म है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान् के दिव्य शरीर से हुई है। ब्राह्मण की भगवान् के श्रीमुख से, क्षत्रिय की बाहु से, वैश्य की ऊरू से और शूद्र की चरणों से उत्पत्ति हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (ऋग्वेद १०-९०।१२)

आश्रम-धर्म—वर्णव्यवस्था की भाँति ही वैदिक भारतीय संस्कृति में आश्रम-व्यवस्था है। वैदिक-संस्कृति का लक्ष्य त्याग है, भोग नहीं। संसार के तुच्छ, अल्प, सीमित और दुःख-मिश्रित भोगों में आसक्ति न रखकर जीवन को त्यागमय बनाना, यह महत्व की बात मानी जाती है। भारतीय-संस्कृति में स्वाभाविक ही भोगी की अपेक्षा त्यागी का ऊँचा स्थान है। महान् सम्राट् भी त्यागी महात्माओं की चरण-धूलि सिरपर चढ़ाने में अपना सौभाग्य समझता है। किसके पास कितना अधिक धन-ऐश्वर्य है, इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। महत्व

है इस बात का कि कौन कितना बड़ा त्यागी है।

पाश्चात्यों के संग से जब से भारत ने इस त्याग के महत्व को भुलाया और अपनी संस्कृति के सिद्धान्तों के विरुद्ध भोगैश्वर्य के पीछे पागल हुआ, तभी से जीवन का लक्ष्य मानकर उसकी दृष्टि केवल अर्थ और अधिकार पर टिकने लगी और तभी से अनाचार, दुराचार, चोरी, छल, कपट, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी आदि दोष आ गये और ये तब तक नहीं मिट सकेंगे, जब तक कि त्याग की महत्ता का यथार्थ अनुभव न हो जायगा। हमारे आश्रम-धर्म में आरम्भ से ही त्याग की शिक्षा दी जाती है। 'ब्रह्मचर्याश्रम' में राजकुमार भी गुरुकुल में उसी रूप में रहता है, जिस रूप में एक निर्धन का बालक। और नियमतः ही वहाँ समस्त विलास-सामग्रियों का ऐन्द्रिय - सुख भोगों का त्याग और मन-इन्द्रिय का संयम रखना पड़ता है। त्याग की इस प्रथम घाटी को पार करके वह (गृहस्थाश्रम) में आता है, यहाँ उसे भोगों में रहकर त्यागी बनना पड़ता है। धन कमाता है, पर अपने लिये नहीं, सारे समाज के लिये, विश्व के लिये और भगवान् के लिये। पुत्रोत्पादन करता है पर अपने लिये नहीं समाज के लिये, धर्म के लिये, भगवान के लिये।

वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। वह सारे समाज का सेवक होता है तीनों आश्रमों का और प्राणिमात्र का आश्रय होता है। महाराज मनु कहते हैं—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा ग्रहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणों ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं याऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥

(मनु० ३ । ७८-७९)

जैसे सब प्राणी प्राणवायु का आश्रय लेकर जीते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रमी का आश्रय लेकर जीते हैं, क्योंकि गृहस्थ ही नित्य विद्या और अन्न का दान देकर तीनों आश्रम-वालों को टिकाये रखता है, अतः गृहस्थाश्रमी पुरुष तीनों आश्रमों में श्रेष्ठ है । जिसको स्वर्ग के अक्षय सुख की तथा इस लोक में सुख की इच्छा हो, उसको प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिये, जो अजितेन्द्रिय पुरुषों के द्वारा धारण नहीं किया जा सकता क्योंकि गृहस्थ सबकी सेवा करके प्रसादरूप से जो प्राप्त होता है, उसी को अमृतरूप जानकर वह अपना काम चलाता है । इस आश्रम में जीवन का एक महान् उत्तरदायित्वयुक्त कर्मपूर्ण अंश बिताकर और सुयोग्य त्याग-भावापन्न उत्तराधिकारी को घर का भार सौंपकर त्याग के पथ में और भी आगे बढ़ने के लिये (वानप्रस्थ) आश्रम में पहुँ-चता है और फिर अन्त में 'चतुर्थाश्रम-संन्यास, में सम्यक् प्रकार से सम्पूर्ण त्याग करके परमात्मा के साथ एकात्मता प्राप्त करता है ।

चारों आश्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक त्याग की स्थिति में ले जानेवाले हैं और अपने-अपने पूर्वाश्रम की सुदृढ़ भित्ति के आधार पर स्थित हैं ।

[illegible]-धर्म—वैदिक-भारतीय-संस्कृति में विवाह कभी न टूटनेवाला एक परम पवित्र धार्मिक संस्कार है, यज्ञ है। वह इन्द्रिय-सुखभोग के लिये नहीं, बल्कि पुत्रोत्पादन के द्वारा परलोक गत पितरों को सुख पहुँचाने और देवताओं को तुष्ट करने के लिये है। इसमें विवाह-विच्छेद की बात तो दूर रही, जन्म-जन्मान्तर तक पति-पत्नी का पवित्र सम्बन्ध बना रहता है। इसीलिये इस गये-गुजरे जमाने में भी सतियों के चमत्कार होते ही रहते हैं।

सेवा-धर्म—भारतीय-संस्कृति में माता-पिता, गुरु और श्रेष्ठ पुरुषों की वन्दना तथा सेवा का बड़ा महत्व है। इस विषय में भी महाराज मनुजी बताते हैं—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥

(मनु० २। २२५, २२६, २२७, २३२)

आचार्य, पिता, माता, और बड़े भाई इनका इनसे सताये जाने पर भी, अपमान न करे। ब्राह्मणों का तो विशेष रूप से अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति, पिता प्रजापति की मूर्ति, माता पृथ्वी की मूर्ति और बड़ा भाई

अपनी ही दूसरी मूर्ति है, (इनका अपमान करने से उन-उन देवताओं का अपमान करना माना जाता है) ।

बालकों को जन्म देकर उनका पालन पोषण करने में माता-पिता को जो दुःख सहना पड़ता है, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करके भी नहीं चुकाया जा सकता। जो गृहस्थ माता-पिता और गुरु इन तीनों की सेवा में तत्पर रहता है, वह तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करता है और स्वर्ग में सूर्य के सदृस अपने तेजस्वी शरीर के द्वारा प्रकाश करता हुआ आनन्द में रहता है। महाराज मनु कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

मनु (२।१२१)

जो मनुष्य नित्य बड़ों को प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है उसके आयु, विद्या, यश, और बल चारों बढ़ते हैं ।

वैदिक-भारतीय-धर्म-संस्कृति के कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है । यह वस्तुतः अध्यात्म प्रधान है । व्यावहारिक लोकहित का पूरा ध्यान रखते हुए सत्य और न्यायपूर्ण साधन से अनासक्त होकर लौकिक उन्नति करना और उसमें भी जीवन के चरम लक्ष्य भगवान की ओर बढ़ते रहना इसका प्रधान स्वरूप है । वेद में कहा गया है—

ईसावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(शुक्ल यजुर्वेद अ० ४० । १ । १)

इस जगत् में जो कुछ भी जीवन है वह सब ईश्वर का

बसाया हुआ है। इसलिये तू ईश्वर के नाम से त्याग करके यथाप्राप्त भोग किया कर। किसी के धन की वासना न कर।

योग-साधन के विषय में

सांख्य के बाद भारतीय-दर्शन में योग का स्थान आता है योग दर्शन के रचयिता महिर्षि पातञ्जलि हैं। इनके अनुसार विश्व के रहस्य को समझने के लिये पहिले अपने में निहित तत्व को खोज करने की आवश्यकता है। 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' अर्थात् अपने चित्त की जो स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं उसे रोक कर अपने अन्दर वास्तविक सत्य का दर्शन किया जा सकता है, क्योंकि वास्तविक सत्य हमसे बाहर नहीं है वह हममें ही ओत-प्रोत है तथा उसीसे ही हमारे 'स्व' की उत्पत्ति हुई है। इसलिये पातंजलि के सिद्धान्तानुसार वह वास्तविक सत्य अपने इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों को रोक कर उस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। पर विश्व के वास्तविक सत्य स्वरूप - रूपी साध्य को प्राप्त करने के लिये साधक और उसके साधन पवित्रता की नितान्त आवश्यकता है इसीलिये उन्होंने 'अष्टाङ्गयोग' का नियम बना कर विश्व के विक्षिप्त प्राणियों को वास्तविक सुख एवं विश्व कल्याण का रास्ता प्रसस्थ कर दिया है।

यह भारतवासियों के लिये ही कल्याणकारी नहीं वरन् समस्त विश्व के मानवों के लिये एक अमूल्य निधि है। पातंजलि के अष्टाङ्ग योग का दर्शन सरल एवं सुलभ भाषा में नीचे दिया जा रहा है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम्, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि, ये ही पातंजलि के अष्टांङ्ग योग

हैं। यम-यम का अर्थ संयम होता है। इसके पाँच भेद होते हैं।

(१) अहिंसा सर्वदा तथा सर्वथा सब प्राणियों पर मन-वचन तथा कर्मों के द्वारा किसी प्रकार की भी हिंसा नहीं करना।

(२) सत्य मन और वचन का यथार्थ होना अर्थात् जैसा देखा गया या जैसा सुना गया हो उसको वैसाही कहना सत्य है।

(३) अस्तेय-दूसरे के द्रव्यों के लिये इच्छा नहीं करना।

(४) ब्रह्मचर्य-इन्द्रियों को संयम से रखने को कहते हैं।

(५) अप्रतिग्रह-विषयों को अर्जन नहीं करना तथा रक्षा आदि में दोष देख कर उसे स्वीकार नहीं करना।

नियम - इसके भी पाँच भेद होते हैं।

(१) शौच-भीतरी तथा बाहरी शुद्धि।

(२) सन्तोष-आवश्यकीय वस्तु का भी अधिक न होना तथा उसे प्राप्त करने के लिये हाय-हाय नहीं करने को कहते हैं।

(३) तप-सुख-दुःख, धूप, सर्दी, भूख-प्यास आदि दुःखों को अपने इष्ट साधन के लिये सहना तथा कठिन व्रतों का पालन करने को कहते हैं।

(४) स्वाध्याय-मोक्ष-शास्त्रों को पढ़ना अर्थात् अपने 'मैं' के उत्पत्ति के विषय में अध्ययन करना तथा ओंकार का जप करने को स्वाध्याय कहते है।

(५) ईश्वर-प्रणिधान-ईश्वर में भक्तिपूर्वक सब कर्मों को समर्पण करने को कहते है।

आसन – 'स्थिर सुखमासनम्' स्थिरता तथा सुख देनेवाला जो भी आसन हो अर्थात् ऐसा आसन जिसमें शरीर को सुख मिल सके जैसे कमलासन, सिंहासन आदि को आसन कहते हैं।

प्राणायाम् - आसन ठीक हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गतियों को रोकने तथा छोड़ने को प्राणायाम कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है।

(१) रेचक–भीतरी वायु को बाहर निकाल कर बाहर ही रोकने को कहते हैं।

(२) पूरक–बाहर की वायु को भीतर रोक रखने को कहते हैं।

(३) कुम्भक–एक ही प्रयत्न से बाहरी और भीतरी वायु को रोक कर स्थिर हो जाने को कहते हैं।

प्रत्याहार—जब इन्द्रियाँ अपने बाह्य विषयों से हटकर चित्त के समान ही शान्त एवं गम्भीर हो रुक जाती हैं तब उसे ही प्रत्याहार, कहते हैं। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों के ऊपर पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो जाता है। अर्थात् उससे जो आप लेना चाहेंगे अपनी इन्द्रियों द्वारा आसानी से ले सकते हैं।

धारणा—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' किसी देश में जैसे नासिका या जिह्वा के अग्र भाग पर या देवता के मूर्तियों आदि में चित्त को लगाना धारणा कहलाता है।

ध्यान–ध्येय वस्तु का ज्ञान जब ध्याता को पूर्ण रूप से हो जाता है अर्थात् जब उसे अपने ध्येय के अलावा और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता है तब उसे ध्यान कहते हैं।

समाधि—समाधि का अर्थ है विषयों को हटाकर चित्त का एकाग्र हो जाना। जहाँ ध्यान-ध्येय वस्तु के प्रभाव से अपने स्वरूप को छोड़ देता है। अर्थात् ध्येय वस्तु का आकार धारण कर लेता है उसे ही समाधि कहते है। ध्यानावस्था में ध्यान,

ध्याता, और ध्येय अलग-अलग रहता है पर समाधि की अवस्था में तीनों एकाकार बन जाता है।

सामाजिक जीवन के विषय में

(१) वैदिक समाज का आधार कुटुम्ब था। उस समय विवाह-संस्कार तो लगभग वैसा ही होता था जैसा आज कल होता है। किन्तु साथियों के चुनाव, विवाह-सम्बन्धी आदर्शों और स्त्रियों की स्थिति में बड़ा अन्तर था। वैदिककाल में विवाह युवावस्था में होते थे। बाल-विवाह की दूषित पद्धति का तत्कालीन साहित्य में कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता। युवक-युवतियों को अपना जीवन-संगी चुनने की काफी स्वतंत्रता थी। विवाह पवित्र और स्थायी सम्बन्ध गिना जाता था।

(२) स्त्रियों की स्थिति—वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति जितनी ऊँची थी उतनी बाद में कभी नहीं रही। यह बड़ी विलक्षण बात है कि भारत में वस्तुस्थिति सर्वथा विपरीत है। वैदिक युग में स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह ही ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं। घोषा, विश्ववारा और लोपामुद्रा को ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का ऋषि होने का गौरव प्राप्त है। परिवार में स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी, विवाह के समय वधू को आशीर्वाद दिया जाता था कि, तुम नये घर की सम्राज्ञी बनो। घरेलू तथा धार्मिक कार्यों में पति और पत्नी का दर्जा बराबर का था। कोई यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था, धार्मिक कार्य पति-पत्नी मिलकर ही पूरा करते थे, स्त्रियाँ सामाजिक जीवन में पूरा भाग लेती थीं।

(३) वर्ण-व्यवस्था–वैदिक युग में ही शास्त्रकारो ने पहली

बार चारों वर्णों के कर्तव्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया, और उनके लिये पृथक्-पृथक् नियम बनाए। यह याद रखना चाहिये कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में खान-पान और शादी-व्याह के बन्धन कठोर नहीं हुए थे अपनी-अपनी श्रेणी में रोटी-बेटी का सम्बन्ध हो ऐसी प्रवृत्ति तो स्वाभाविक होती ही है। यह उस समय भी किसी-न-किसी रूप में रही होगी, पर उस समय के वर्ण आज-कल की तरह जात-पाँत के तंग दायरे में न थे। धीरे-धीरे इन बन्धनों में कठोरता आई। कुछ विद्वानों का यह कथन है कि आर्येतर जातियों में इस तरह के खान-पान और शादी-व्याह के अनेक प्रतिबन्ध थे। उनके साथ सम्पर्क में आने पर आर्यों ने उनके वे प्रतिबन्ध पहिले से ही विकसित विभिन्न श्रेणियों पर लागू कर दिये।

(४) आश्रम व्यवस्था—इस काल में साधारण मनुष्य के जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में बाँटा गया था। भारतीय विचारकों का यह मत रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति चार प्रकार के ऋण लेकर पैदा होता है। मनुष्यों का, देवताओं का, ऋषियों का और पितरों का। मनुष्य का ऋण अपने पड़ोसियों की सेवा और आतिथ्य से चुक जाता है, देवताओं का ऋण यज्ञों द्वारा उतारा जा सकता है। पितरों का ऋण सन्तानोत्पादन और ऋषियों का ऋण अध्ययन और अध्यापन से चुकता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने ऋण उतारे। इसीलिये आश्रमों की व्यवस्था की गई है। पहिले आश्रम में मनुष्य पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहते हुए अपना पूर्ण विकास करता था। दूसरे

में गृहस्थ होकर पितरों और मनुष्यों का ऋण उतारता था वानप्रस्थ और संन्यास में वह ऋषियों के ऋणों से मुक्त होता था।

राजनैतिक जीवन के विषय में

(१) शासक को राजा कहा जाता था, राजा प्रायः वंश-क्रमागत होता था, किन्तु उसे स्वेच्छाचार करने का निरंकुश अधिकार नहीं था। वह कुछ शर्तों से नियंत्रित होता था, प्रजा राजा का वरण करती थी, वरण का अर्थ यह है कि उत्तराधिकारी के अभाव में वह नया अधिकारी चुनती थी, और उत्तराधिकारी को राजा होने की स्वीकृति देती थी, उस स्वीकृति से ही राजा का अभिषेक होता था और वह राजपद का अधिकारी समझा जाता था, वरण द्वारा प्रजा के साथ राजा की एक प्रतिज्ञा या ठहराव हो जाता था। अभिषेक के समय राजा से यह आशा रखी जाती थी कि वह इस प्रतिज्ञा को पूरा करेगा। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोड़ता था तो प्रजा उसे पद-च्युत और निर्वासित कर देती थी।

(२) समिति—प्रजा (विशः) अपने अधिकारों का प्रयोग समिति द्वारा करती थी, समिति समूची प्रजा की संस्था होती थी और राज्य की वागडोर उसके हाथ में रहती थी। उसका एक पति-ईशान होता था। राजा भी समिति में जाता था। राजा का चुनाव, पद-च्युत, पुनर्वरण, आदि राजकीय प्रश्नों का विचार और निर्णय उसके प्रधान कार्य होते थे। उसके सदस्यों के सम्बन्ध में पूर्ण एवं निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसमें ग्रामणी,

सूत, रथकार, और कर्मार (लोहे तथा तांबे के हथियार बनानेवाले) अवश्य सम्मिलित होते थे। इस प्रकार यह एक प्रतिनिधि संस्था होती थी।

(३) सभा—समिति के अलावा एक अन्य संस्था सभा होती थी, यह समिति से छोटी होती थी, तथा राष्ट्र के प्रधान न्यायालय का काम देती थी, प्रत्येक ग्राम की अपनी सभा होती थी, इसमें आवश्यक कार्यों के बाद विनोद की बातें भी होती थीं और तब वह गोष्ठी का काम देती थी।

(४) अधिकारी तथा रत्नी—राज्य के मुख्य अधिकारी पुरोहित, सेनापति, और ग्रामणी (ग्रामसभा का नेता) थे। राज्याभिषेक के समय ये तथा सूत, रथकार, कामदार राजा को राज्य का सांकेतिक चिह्न पलाश-वृक्ष की डाल-पर्ण (मणि) या रत्न देते थे, अतएव इन्हें (रत्नी) कहते थे। राजा अभिषेक से पूर्व इनकी पूजा करता था। प्रजा की रक्षा, शत्रुओं से लड़ना, शान्ति के समय यज्ञ आदि करना राजा के मुख्य कर्तव्य थे। राजा अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा से बलि या भाग (कर) लेने का अधिकारी था।

(५) शासन-प्रणाली—राजा समेत १२ रत्नी या राज्याधिकारी होते थे। १ सेनानी २ पुरोहित ३ राजा ४ महिषी (पटरानी) ५ सूत (राज्य का वृत्तान्त रखनेवाला) ६ ग्रामणी (गाँव का, राजधानी का, या राज्य के गाँवो का नेता) ७ क्षता (राजकीय कुटुम्ब का निरीक्षक) ८ संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) ९ भागदुघ (कर एकत्र करने वाला मुख्य अधिकारी) १० अक्षवाप (हिसाब रखनेवाला मुख्य अधिकारी) ११ गोविकर्ता

(जंगलात का निरीक्षक) १२ पालागन (संदेशहर) इस प्रकार से नियमित शासन-तन्त्र शुरू हुआ। सौ गाँवों का अफसर पति और सीमान्त का शासक स्थपति कहलाता था।

पुलिस के अधिकारियों को उस समय उग्र या जीवग्रभ कहते थे। राजा का कार्य पूर्ववत विदेशी शत्रुओं से रक्षा करना, शासन और न्याय का प्रबन्ध करना था। न्याय-कार्य अध्यक्ष तथा पूर्व वैदिक काल को सभाएँ करती थी, गाँवों के छोटे मामलों का फैसला गाँव की सभा और 'ग्राम्यवादी' (गाँव का जज) करता था।

आर्थिक जीवन के विषय में

(१) आजीविका—आर्यों की प्रधान आजीविका पशु-पालन थी। पशुओं में गोपालन पर सबसे अधिक बल दिया जाता था। बैल खेती और गाड़ी आदि खींचने में प्रयुक्त होते थे। घोड़े लड़ाई तथा रथों की दौड़ के लिये पाले जाते थे। अन्य पालतू भेंड़-बकरी और कुत्ते आदि थे। कुत्ते पशुओं की रखवाली और शिकार के लिये रखे जाते थे।

दूसरी प्रधान आजीविका कृषि थी, कृषि केवल वर्षा पर ही निर्भर नहीं थी, नहरों (कुल्याओं) द्वारा सिंचाई भी होती थी। मृगया तीसरी आजीविका थी। तीर कमान, पाश से और गढ़े खोद कर शिकार किया जाता था। शेर और हिरन का आखेट प्रायः होता था।

(२) शिल्प—शिल्प की भी पर्याप्त उन्नति हुई। प्रधान शिल्प रथकार या बढ़ई का था। वह युद्ध के लिये रथ और कृषि के लिये हल और गाड़ियाँ आदि बनाता था, धातु का काम करने

वाले कर्मार (लुहार) का था। वह अयस के वर्त्तन बनाता था अयस को कुछ विद्वान तावा समझते हैं और कुछ लोहा या काँसा। इसके अतिरिक्त चमड़ा कमाने का शिल्प भी प्रचलित था। स्त्रियाँ चटाई की बुनाई का तथा कताई आदि का काम करती थीं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पिछले काल में शिल्प करने वालों को जैसा नीच समझा गया, वैसी स्थिति वैदिक युग में नहीं थी, सब पेशे सम्मान्य समझे जाते थे, यह पहिले बतलाया जा चुका है कि रथकार और कर्मार राजा के अधिकारियों में गिने जाते थे।

(३) सम्पति तथा विनिमय—आर्यों की अचल सम्पत्ति भूमि और चल सम्पत्ति प्रधान रूप से पशु थे। जमीन खरीदने-वेचने की प्रथा नहीं थी, उसकी आवश्यकता भी नहीं थी जंगल साफ करके जमीन बनाई जा सकती थी, लेकिन अचल सम्पत्ति का लेन-देन काफी था। मुद्रा का प्रचलन नहीं के बराबर था। गाय सिक्के का काम देती थी, निष्क नाम का सोने का सिक्का भी चलता था।

३—वैदिक-भारतीय-धर्म-संस्कृति के आधार स्तम्भ

१—वेद

भारतीय धर्म-संस्कृति का मूल वेद है यही सनातन आर्य धर्म के मुख्य आधार हैं। न केवल धार्मिक किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी वेदों का असाधारण महत्व है। वैदिक युग के आर्यों की संस्कृति और सभ्यता जानने का एक मात्र साधन यही है।

(१) वेद चार है—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद।

(२) वेदों का ज्ञान ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों को दिया, अर्थात् ।

अग्नि ऋषि को ऋग्वेद ।
वायु ऋषि को यजुर्वेद ॥
आदित्य ऋषि को सामवेद ।
अंगिरस ऋषि को अथर्ववेद ॥

(३) इन ऋषियों ने वेदों का अन्य ऋषियों और मनुष्यों को उपदेश दिया, संसार भर की सब विद्याएँ वेदों से ही निकली हैं ।

(४) वेद स्वतः प्रमाण हैं, और अन्य ग्रन्थ परतः प्रमाण अर्थात् जो बात उनमें वेद के अनकूल है वह ठीक है जो वेद विरुद्ध है वह गलत है ।

(५) वेद संस्कृत भाषा में नहीं, किन्तु देववाणी में है । संस्कृत भाषा वेदों की भाषा से निकली है और अन्य सब भाषाएँ संस्कृत से ।

(६) वेदों में इतिहास नहीं है, वेदों में यौगिक शब्द हैं, रूढ़ि नहीं, अर्थात् वेदों में ऐसे शब्द आये हैं जो हमको मनुष्यों के से नाम मालूम होते है, परन्तु उनके और अर्थ होते हैं ।

(७) वेदों में मुख्यतः तीन बातें हैं—१ ईश्वर के लिये भिन्न-भिन्न अवसरों के अनुकूल प्रार्थनाएँ २ सृष्टि के नियम ३ मनुष्यों को उपदेश ।

(८) वेदों में इन्द्र, वरुण, आदि शब्द कहीं ईश्वर के लिये आये हैं और कहीं भौतिक पदार्थों जैसे कि आग-पानी आदि के लिये इसका पता संगति-स्वाध्याय से लग सकता है ।

(९) पहिले संसार भर में वेद मत ही था पीछे से भिन्न-भिन्न मत हो गये ।

(१०) वेदोपदेश व्यक्ति और समाज के विषय में—

ओ३म् यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्यंते ॥ १ ॥
ओ३म् ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यकृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः यद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ २ ॥

(ऋग्वेद १०।९०।११-१२)

जिस महापुरुष को धारण किया, उसकी कितने प्रकार से कल्पना की गई । उसका मुख क्या था, उसकी भुजाएँ क्या थीं, तथा जंघा और पैर क्या कहे जाते हैं । उस महापुरुष का मुख ब्राह्मण है, भुजा रूप क्षत्रिय है तथा जंघा वैश्य और पैर शूद्र कहे जाते हैं । अर्थात्—इसके अनुसार समाज में ब्राह्मण ज्ञान-दानादि का मुख का कार्य करता है, क्षत्रिय बाहुओं से समाज की शत्रुओं से रक्षा करता है, वैश्य जंघाओं की भाँति समाज में सम्पत्ति का उत्पादन करता है और शूद्र पैरों की भाँति अन्य वर्णों की सेवा श्रम-करता है ।

अन्य शास्त्र

वैदिक भारतीय समाज वेदों को तो ईश्वर कृत मानता है । परन्तु इनके अतिरिक्त भी नीचे लिखे ऋषियों, महात्माओं, महापुरुषों के ग्रन्थों को और वाणियों को उस हद तक प्रमाणिक मानता है जिस हद तक वह वेदों के अनुकूल हों ।

(२) संहिता-शाखाएँ-प्राचीन काल में वेदों की रक्षा गुरु शिष्य की परम्परा द्वारा होती थी, इनका लिखित एवं निश्चित

स्वरूप न होने से वेदों के स्वरूप में कुछ भेद आने लगा और इनकी शाखाओं का विकास हुआ। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थीं,—शाकल, वाष्कल, आश्वालायन, शांखायन और माण्डुकेय।

शुक्ल यजुर्वेद की दो प्रधान शाखाएँ माध्यंदिन और कण्व, कृष्ण यजुर्वेद की शाखाएँ—तैत्तरीय मैत्रायणी, काठक, कठ तथा कापिष्ठल। सामवेद की दो शाखाएँ—कौथुम और राणायनी, अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—पैप्पलाद और शौनक।

(३) ब्राह्मणग्रन्थ—संहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ इनमें यज्ञों के कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन है, साथ ही शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तथा प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कथाएँ तथा सृष्टि-सम्बन्धी विचार हैं। प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं। (१) ऐतरेय और (२) कौषीतकी। ऐतरेय में ४० अध्याय और ८ पंचकाएँ हैं, इसमें अग्निष्टोम, गवामयन, द्वादशाह आदि सोमयागों अग्निहोत्र तथा राज्याभिषेक विस्तृत वर्णन है। कौषीतकी (शांखायन) में तीस अध्याय हैं परन्तु विषय ऐतरेय ब्राह्मण जैसा ही है। इनसे तत्कालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय में शुनःशेप की प्रसिद्ध कथा है। कौषीतकी से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर काफी बल दिया जाता था। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें सौ अध्याय हैं। ऋग्वेद के बाद प्राचीन इतिहास की सबसे अधिक जानकारी इसी से मिलती है। इसमें यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यानों, व्युत्पत्तियों तथा सामाजिक बातों का वर्णन है। इसके समय में कुरु-पांचाल आर्य-संस्कृति का केन्द्र था, इसमें पुरुरवा और उर्वशी की प्रणय-गाथा, च्यवन

ऋषि तथा महाप्रलय का आख्यान, जनमेजय, शकुन्तला और भरत का उल्लेख है। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में से पंचविंशया ताराड्य ही महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ के नाम से प्रसिद्ध है।

(४) आरण्यक-ब्राह्मणों के अन्त में कुछ ऐसे अध्याय भी मिलते हैं जो गाँवों तथा नगरों में नहीं पढ़े जाते थे। उनका अध्ययन-अध्यापन गाँवों से दूर अरण्यों (वनों) में होता था। इन्हें आरण्यक कहते हैं। गृहस्थाश्रम में यज्ञ-विधि का निर्देश करने के लिये ब्राह्मण - ग्रन्थ उपयोगी थे और उसके वानप्रस्थ आश्रम में वनवासी आर्य-यज्ञ के रहस्यों और दार्शनिक तत्वों का विवेचन करने वाले आरण्यकों का अध्ययन करते थे। उपनिषदों का इन्हीं आरण्यकों से विकास हुआ।

(५) उपनिषद्—उपनिषदों में मानव-जीवन और विश्व के गूढ़तम प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ये भारतीय अध्यात्मशास्त्र के देदीप्यमान् रत्न हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है। वैदिक साहित्य में इनका स्थान अन्त में होने से ये 'वेदान्त' भी कहलाते हैं। इनमें जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन द्वारा ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक उड़ान ली गई है। भारतीय ऋषियों ने गम्भीरतम चिन्तन से जिन आध्यात्मिक तत्वों का साक्षात्कार किया, उपनिषद् उनका अमूल्य कोष है। इनमें अनेक शतकों की तत्व-चिन्ता का परिणाम है। मुक्तिकोपनिषद् में चारों वेदों से सम्बद्ध १०८ उपनिषद् गिनाए गये हैं, किन्तु ११ उपनिषद् ही अधिक प्रसिद्ध हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इनमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक अधिक प्राचीन और महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

(६) सूत्र-साहित्य—वैदिक साहित्य के विशाल एवं जटिल होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नवीन रूप दिया गया। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ प्रतिपादन करनेवाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब महत्वपूर्ण विधि विधान प्रकट किये जाने लगे इन सार-गर्भित वाक्यों को सूत्र कहा जाता है। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी सूत्र-साहित्य को चार भागों में बाँटा गया (१) श्रौतसूत्र (२) गृह्यसूत्र (३) धर्मसूत्र और (४) शुल्व-सूत्र। पहिले में वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है, दूसरे में गृहस्थ के दैनिक यज्ञों का, तीसरे में सामाजिक नियमों का और चोथे में यज्ञ-वेदियों के निर्माण का। श्रौत का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ याग। अतः श्रौत सूत्रों में तीन प्रकार की अग्नियों के आधान अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्यादि साधारण यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सोमयागों का वर्णन है। ये भारत की प्राचीन यज्ञ-पद्धति पर बहुत प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं शांखायन और आश्वला-यन। शुक्ल यजुर्वेद का एक-कात्यायन, कृष्णयजुर्वेद के छः सूत्र हैं:—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस, सामवेद के लाटयायन, द्राह्यायण, और आर्षेय नामक तीन सूत्र हैं। अथर्ववेद का एक ही वैतान सूत्र है।

(७) वेदांग—काफी समय बीतने के बाद वैदिक साहित्य जटिल एवं कठिन प्रतीत होने लगा। उस समय वेद के अर्थ तथा विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिये अनेक सूत्र-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इसलिये इन्हें वेदांग कहा गया। वेदांग छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष। पहिले चार वेद मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और अर्थ समझने के लिये तथा अन्तिम दो धार्मिक कर्मकाण्ड और यज्ञों का समय जानने के

लिये आवश्यक है। व्याकरण को वेद का मुख, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका तथा छन्द को दोनों पैर कहा जाता है।

(८) रामायण—भारतीय संस्कृति में रामायण का महत्व इस बात में है कि उसने प्रत्येक क्षेत्र में, विशेषतः गृहस्थ धर्म के जितने उज्ज्वल और विविध प्रकार के आदर्श लोकप्रिय और मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किये हैं, उतने अन्य किसी ग्रन्थ ने नहीं किये, यह आदर्शों का विशाल भंडार है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श प्रजा, आदर्श धर्मात्मा सारांश यह कि सब प्रकार के आदर्श इसमें हैं। सदियों से ये आदर्श हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करते रहे हैं। हमारे देश की सांस्कृतिक एकता का एक बड़ा कारण यही आदर्श हैं। वाल्मीकि का उद्देश्य ही मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का चित्रण करना है क्योंकि राम अनेक आदर्शों के पुञ्ज हैं। वे पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके वन जानेवाले आदर्श पुत्र भाई के लिये राजगद्दी छोड़नेवाले आदर्श भाई, सीता का रावण से उद्धार करनेवाले आदर्श पति हैं और अपनी प्राणाधिका प्रियतमा का लोकानुरञ्जन के लिये परित्याग कर देनेवाले आदर्श राजा हैं। रामराज्य आजतक आदर्शराज्य माना जाता है। सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात् प्रतिनिधि हैं। आर्यललनाएँ हजारों वर्षों से उनके उदात्त उदाहरण का अनुसरण करती आ रही हैं। कौशल्या जैसी माता तथा भरत और लक्ष्मण जैसे भाई सदैव भारतीय-समाज में अनुकरणीय माने जाते हैं। रामायण के दो प्रमुख ग्रन्थ हैं (१) संस्कृत काव्य में श्रीवाल्मीकिजी द्वारा रचित (२) हिन्दी काव्य में श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा रचित।

(९) महाभारत—महाभारत केवल कौरव-पाण्डवों के संघर्ष

की कथा ही नहीं किन्तु भारतीय-संस्कृति और हिन्दू-धर्म के सर्वांगीण विकास का प्रदर्शक एक विशाल विश्वकोष है। इसमें उस समय के धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदर्शों का अमूल्य और अक्षय संग्रह है। महाभारत की इस उक्ति में लेश-मात्र भी सन्देह नहीं कि वह सर्वप्रधान काव्य, सर्वदर्शनों का सार स्मृति, इतिहास और चरित्र-चित्रण की खान तथा पंचम वेद है। मानव जीवन का कोई ऐसा पहलू या समस्या नहीं जिस पर इसमें विस्तार से विचार न किया गया हो। शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व तो इसी दृष्टि से लिखे गये हैं। इसीलिये महाभारत का यह दावा सर्वथा सत्य है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो इसमें कहा गया है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है (यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्)। ऋग्वेद के बाद यह संस्कृत साहित्य का सबसे देदीप्यमान रत्न है। विस्तार में कोई काव्य इसकी समता नहीं कर सकता, इसका सांस्कृतिक महत्व इसी तथ्य से स्पष्ट है कि भारतीय-समाज का सबसे प्रसिद्ध 'भगवद्गीता' इसी का अंश है। भारत या भारत से बाहर जहाँ कहीं भी भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ रामायण के साथ-साथ वहाँ महाभारत का भी प्रचार हुआ।

(१०) पुराण—पुराण शब्द का अर्थ है—पुरानी कहानी (आख्यान) रामायण और महाभारत की भाँति ये अत्यन्त प्राचीन काल से चले आते हैं। यज्ञों और राज्याभिषेक आदि के अवसर पर चारण और भाट (सूत) इनका पाठ कर पुराने राज-वंशों का इतिहास सुनाया करते थे, इनमें क्रमशः वृद्धि होती रही। ऐसा कहा जाता है कि पुराणों के बनानेवाले महर्षि वेदव्यासजी थे, इसका यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि उन्होंने महाभारत

युद्ध तक के पुराने राजवंशों के सम्बन्ध में चली आनेवाली परम्पराओं और जनुश्रुतियों का विभिन्न पुराणों में संग्रह किया किन्तु पुराणों का विकास यहीं समाप्त नहीं हो गया। महाभारत-युद्ध के बाद होनेवाली घटनाओं का इनमें भविष्यवाणी के रूप में वर्णन किया जाने लगा। पुराणों में महाभारत तक की घटनाएँ भूतकाल के रूप में, इस युद्ध से जनमेजय तक की घटनाएँ वर्तमान काल के रूप में और इससे बाद की बातें भविष्यकाल के रूप में वर्णित हैं। यह प्रक्रिया सैकड़ों वर्षों तक चलती रही। जनमेजय से शुंग, कण्व और आन्ध्रवंशी राजाओं का इतिहास पुराणों में भविष्य वाणी के रूप में दिया हुआ है। भारत पर विदेशी जातियों के आक्रमणों के साथ अधिकांश पुराणों में भविष्य वाणी की यह परम्परा समाप्त होगई, किन्तु कुछ पुराणों में बाद की घटनाओं का जोड़ा जाना जारी रहा। भविष्यपुराण में ऐसी बहुत घटनाएँ हैं, इसके एक उपपुराण-भविष्योत्तर में तो बृटिश काल के इतिहास को भी भविष्यवाणी के रूप में सम्मिलित कर लिया गया है।

पुराणों में निम्न पाँच बातों का वर्णन है (१) सर्गसृष्टि की उत्पत्ति (२) प्रतिसर्ग-सृष्टि का विस्तार प्रलय तथा पुनः उत्पत्ति, (३) वंश-विविध राजाओं तथा ऋषियों के वंशजों का वर्णन (४) मन्वन्तर-संसार का काल विभाग और प्रत्येक काल की प्रधान घटनाओं का उल्लेख (५) वंशानुचरित्र-विविध वंशों के प्रतापी तथा यशस्वी राजाओं के कार्यों का वर्णन। एक श्लोक में उपर्युक्त पाँचों बातों को पुराण का लक्षण बताया गया है—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

पुराण संख्या में १८ हैं, इनमें छः पुराण शिव से, छः विष्ण

से तथा छः ब्रह्मा से सम्बद्ध हैं, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा—

शिव पुराण	वैष्णव पुराण	ब्रह्म पुराण
१ शिव	विष्णु	ब्रह्मा
२ लिंग	भागवत	ब्रह्माण्ड
३ स्कन्द	नारदीय	ब्रह्मवैवर्त
४ अग्नि	गरुड़	मार्कण्डेय
५ मत्स्य	पद्म	भविष्य
६ कूर्म	वराह	वामन

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पुराण अत्यधिक महत्ता रखते हैं। भारत के प्राचीनतम काल का राजनैतिक इतिहास जानने का एकमात्र स्रोत पुराण हैं।

पहिले विदेशी विद्वान् पुराणों के वर्णनों को कपोल-कल्पित, मिथ्या और अत्युक्तिपूर्ण समझते थे किन्तु इनका गहरा अनुशीलन करने से उन्हें यह ज्ञान हुआ कि इनमें काफी ऐतिहासिक अंश है, जो प्राचीन भारत के इतिहास पर बड़ा प्रकाश डालता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से पुराण वर्त्तमान हिन्दू धर्म की आधार-शिला हैं। इस समय हिन्दू धर्म का प्रचलित रूप वैदिक नहीं, किन्तु पौराणिक है। पुराणों में जो धार्मिक विधियाँ, विश्वास, और सम्प्रदाय बताये गये हैं, वही आज हमारे समाज में चल रहे हैं। इनमें जिन तीर्थों की महिमा गाई गई है, उन्हीं की यात्रा से प्रति वर्ष लाखों हिन्दू पुण्य-लाभ करते हैं। इनमें जिन देवताओं की उपासना बताई गई है, करोड़ों हिन्दू उन्हीं की आराधना करते हैं। पुराण, रामायण और महाभारत ही ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्हें सुनने का अधिकार स्त्रियों और शूद्रों को भी है।

वेद, उपनिषद् के ज्ञान के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय थे। अतः पुराण साधारण जनता के धर्म - ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत उपयोगी है। पुराणों की शिक्षा का सार तत्व समझाने के लिये एक दन्त-कथा प्रचलित है कि—एक बार नैमिषारण्य तीर्थ में ऋषि-महात्माओं की सभा में पुराणों के रचियिता महर्षि वेद व्यास जी पधारे तो उनसे अनेक ऋषि - महात्माओं ने प्रार्थना की (कहा) कि आपने इतने बड़े-बड़े १८ पुराणों की रचना की है उनका सार तत्व क्या है। आप जन-कल्याण के हेतु कम-से-कम शब्दों में बताने की कृपा करें। इसके उत्तर में व्यासजी ने कहा है कि—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयम्।
परोपकाराय च पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

अर्थात् अष्टादस १८ पुराणों का सार तत्व दो वचनों में कहता हूँ। (१) परोपकार करना पुण्य है और (२) पर पीड़ा पहुँचाना पाप है।

पुराणोपदेश–आगमोक्तं विवेकोत्थं द्विधा ज्ञानं प्रचक्षते।
शब्दब्रह्मागममयं परब्रह्म विवेकजम् (गरुड़ पु० ६०)।

ज्ञान दो प्रकार का है एक शास्त्रों के द्वारा और दूसरा विवेक से उत्पन्न। शास्त्रमय ज्ञान तो शब्दमय ब्रह्म है और विवेक से उत्पन्न परब्रह्ममय ज्ञान है।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्न ममेति प्रमुच्यते॥ (ग० पु० ६२)

मेरा नहीं है, और मेरा है, यही दो पद मोक्ष और बन्धन के लिये हैं। 'मेरा है' इससे जीव बँध जाता है। और 'मेरा नहीं है। इससे जीव बन्धन से छूट जाता है।

तस्माज्ज्ञानेनात्मतत्वं विज्ञेयं श्रीगुरोर्मुखात्।
सुखेन मुच्यते जन्तुर्घोरसंसार बन्धनात्॥ (ग० पु० १००)

इसलिये ज्ञान का ध्यान करके श्रीगुरु के मुख से आत्मतत्त्व को जानना चाहिये। आत्मतत्त्व के जान लेने से जीव इस कठिन बन्धन से सुखपूर्वक छूट जाता है।

(११) भारतीय दर्शन—भारतीय दर्शनों में प्रधान रूप से आत्मा-परमात्मा और सृष्टि - उत्पत्ति के प्रश्नों पर विचार होता है। संसार का अन्तिम तत्व एक है या अनेक, विश्व की रचना किस प्रकार हुई, संसार में कुल कितने पदार्थ हैं, इनका ज्ञान किन साधनों से ठीक-ठीक हो सकता है, किसी ज्ञान के सत्यासत्य के निर्णय की कसौटी या प्रमाण क्या है, सांसारिक बन्धन तथा जन्म और मृत्यु के चक्कर से मुक्ति किस प्रकार मिल सकती है, इन सब विषयों पर प्राचीन ऋषियों-मुनियों ने जो चिन्तन किया, उससे भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है ? वैदिक युग में आध्यात्मिक और पारलौकिक प्रश्न भारतीयों को बेचैन करते रहे हैं इनका हल भारतीय दर्शनों द्वारा ढूँढ़ने का प्रयत्न हुआ है। भारतीय दर्शनों को प्रधान रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) नास्तिक दर्शन (२) आस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शन वेद की प्रामाणिकता और ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। इनमें तीन प्रधान हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध। आस्तिक दर्शन छः हैं। इन दर्शनों के नाम तथा इनके बनानेवालों के नाम निम्नलिखित हैं।

नाम	रचयिता
पूर्व मीमांसा	जैमिनि
उत्तर मीमांसा (वेदान्त)	बादरायण
सांख्य	कपिल मुनि
योग	पतंजलि
न्याय	गौतम
वैशेषिक	कणाद्

(१२) श्रीमद्भगवद्गीता—(सर्वशास्त्रमयी गीता) अर्थात् गीता सर्वशास्त्रमयी है। शास्त्र कहते हैं भगवान के सनातन शासन विधान को। शास्त्रीय विधान प्रवर्तन प्रतिष्ठापन आदि के लिये भगवान समय-समय पर अवतार ग्रहण करते हैं। श्रीकृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण कर भगवान ने गीता द्वारा अपने सनातन विधान का उपदेश दिया इस प्रकार गीता स्वयं शास्त्र है और इसमें सनातन विधान का प्रतिपादन है। शास्त्र के दो रूप होते हैं एक आचार-विषयक और दूसरा विचार-सम्बन्धी। गीता में दोनों ही विषय हैं आचार में धर्म और विचार में दर्शन गीता का सिद्धान्त है। धर्म ही तो है जिसकी संस्थापना के लिये भगवान् युग-युग अवतार ग्रहण करते हैं और दर्शन ही तो है चाहे उसे आत्मदर्शन कहा जाय चाहे परमात्मदर्शन जिसका उपदेश गीता में है।

गीता अद्वितीय ग्रन्थ है। इस महान ग्रन्थ ने विद्वानों से लेकर सर्वसाधारण तक सबको प्रभावित किया है इतिहास साक्षी है कि गीतोदय के बाद प्रकट होनेवाले महापुरुषों ने पद-पद पर गीता से प्रेरणा ली है। जिसने भी गीता को सुना या पढ़ा वह इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका और आज विश्व के कोने-कोने में गीता के गीत गाये जा रहे हैं। विचारकों की मान्यता है कि गीता ग्रन्थ का आदर सर्वत्र, सदा सभी अवस्था में बना रहेगा, कारण गीता का मार्ग-दर्शन सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है और सर्वावस्थोचित है। इसके सन्देश को किसी भी देश काल या अवस्था के साथ सीमित नहीं किया जा सकता। यह तो प्राणिमात्र के लिये दिया गया अमर सन्देश है।

गीतोपनिषद्—अनन्त अपौरुषेय वेद वाङ्मय चार-विभागों में विभक्त हैं—(१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक और

(४) उपनिषद् । संहिता और ब्राह्मण कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं और आरण्यक एवं उपनिषद ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत । उपनिषदों में वेद वाङ्मय का रहस्य है । इस रहस्य के जाने विना वेद वाङ्मय का परम तात्पर्य ज्ञात नहीं हो सकता । इन उपनिषदों का सार गीता है । कहा है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

आशय यह है कि उपनिषद गौवें हैं, गीताचार्य श्रीकृष्ण दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा है, गीतामृत वह दूध है और समझदार लोग इसका सेवन करनेवाले हैं ।

गीता विद्या—गीता ब्रह्म विद्या है । ब्रह्मविद्या से आशय है ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली विद्या । उपनिषदों में ब्रह्म को परम तत्व माना गया है और उसको प्राप्त करानेवाली विद्याओं का वर्णन किया गया है । गीता को ब्रह्म विद्या कह देने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रन्थ में ब्रह्म-विद्या का वर्णन है ।

साधन पथ और गीता—साधन पथ जानने के लिये जब भारत के इतिहास को देखा जाता है तो इस सम्बन्ध में तीन प्रधान धारायें मिलती हैं—(१) कर्म की, (२) ज्ञान की, और (३) भक्ति की, इन तीन प्रधान धाराओं को कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति - मार्ग कहा जाता है इनके अतिरिक्त अन्य जितनी भी धारायें उपलब्ध होती हैं उनमें इनमें से ही एक, या दो या तीनों का आनुपातिक संयोग मिलता है अतः साधना का सम्पूर्ण इतिहास इन तीन के इतिवृत्त से गतार्थ हो जाता है । गीता में इन तीनों का वर्णन है ।

लोकमान्य तिलक का कर्मयोग—कर्म मार्गियों की दृष्टि गीता के कर्म पर गई । ज्ञान रहित शुष्क कर्म का समर्थन गीता

नहीं करती। अतः वे ही कर्मठ गीता की ओर आकृष्ट हुये जो कर्म के साथ-साथ ज्ञान के पक्षपाती थे। ये थे ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वादी। इन्होंने गीता के द्वारा ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद का प्रतिपादन किया। गीता के शांकर भाष्य से प्रकट होता है कि श्री शंकराचार्य से पूर्व इस सिद्धान्त की टीकायें थी। किन्तु आज कोई प्राचीन टीका उपलब्ध नहीं होती। हाँ इस काल में श्री लोकमान्य तिलक ने इस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने गीता-रहस्य लिखकर गीता को कर्मयोग-शास्त्र ठहराया।

आचार्य शंकर का ज्ञानयोग—ज्ञान मार्गियों ने अपने सिद्धान्तानुसार गीता के कर्म और भक्ति को गौण रूप दिया और गीता को ज्ञान मार्ग का प्रतिपादक बताया। अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापनाचार्य श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने अपने गीता भाष्य के द्वारा यही किया है आपके शब्द हैं—

तस्मात् गीतासु केवलात् एव तत्वज्ञानात् मोक्ष प्राप्तिः।
न कर्म समुच्चितात् इति निश्चित अर्थः।

अर्थात् गीता का निश्चित तात्पर्य यही है कि केवल तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है कर्म (भौतिक) ज्ञान से नहीं। श्रीस्वामी शंकराचार्य के पश्चात् उनकी परम्परा के द्वारा गीता पर जो भी टीकायें लिखी गईं उनमें इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

आचार्य रामानुज का भक्तियोग—भक्तिमार्गियों ने गीता के कर्म और ज्ञान का भक्ति के साथ सामञ्जस्य देखा और गीता के द्वारा भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया। तत्व मीमांसा में विभिन्न मतभेदों के रहने पर भी भक्ति-मार्ग के आचार्यों एवं विद्वानों ने गीता के जो भाष्य और टीका ग्रन्थ लिखे उनमें भक्ति की ही प्रतिष्ठा की गई है। इस मार्ग के भाष्यकारों में प्राचीन विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापनाचार्य श्रीरामानुजाचार्यजी ने

अपने भाष्य में लिखा है—

ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगं अवतारयामास।

भाव यह है कि भगवान ने गीताशास्त्र में ज्ञानकर्मानुगृहीत भक्तियोग का उपदेश दिया।

निश्चय ही गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, और भक्तियोग तीनों ही है। आचार्य श्रीयामुनाचार्य के अनुसार—

त्रयाणामपि योगानां त्रिभिरन्योन्यसंगमः (गीतार्थ संग्रह २४)—

तीनों का तीनों के साथ अन्योन्य सम्बन्ध है अतः ज्ञानवान कर्मठ के लिये कर्मयोग की, ज्ञानी के लिये ज्ञानयोग की, तथा भक्त के लिये भक्तियोग की प्रधानता का अनुभव स्वाभाविक है। गीताचार्य ने भी—यथेच्छसि तथा कुरु (गीता १८।६३) अर्थात् जैसा चाहो करो, कहकर अपना साधन पथ चुनने तथा योग्यता के अनुसार उसमें प्रवृत्त होने का अधिकार दिया है। अतः साधन के भेद से प्रत्येक प्रकार की व्याख्या का अपना स्थान है और अपना उपयोग है।

<u>गीतोपदेश का सार</u>—युद्ध राष्ट्र की आवश्यकता थी। युद्ध करना अर्जुन का कर्तव्य प्राप्त कर्म था। भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित किया। किन्तु अर्जुन आत्म-कल्याण का पक्षपाती बनकर युद्ध से बचना चाहता था। तब भगवान ने अपना उपदेश आरम्भ किया। इस अध्याय में क्रमशः आत्मतत्व, कर्मयोग और स्थितप्रज्ञ का वर्णन है। भगवान् ने आत्मतत्व के वर्णन से ही अपने उपदेश का आरम्भ किया—आत्मा नित्य है, अविनाशी है, अव्यय है, उसे शस्त्र नहीं काट सकता, अग्नि नहीं जला सकती, जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता। वह आश्चर्यमय है, भगवान बताते जा रहे थे। कर्मबन्धन में फँसा हुआ व्यक्ति आत्मतत्व का अनुभव

कैसे करे? अतः भगवान् ने बताया कि इसके लिये बुद्धि को निश्चयात्मिका बनाना होगा और कर्त्तव्य का अहंकार कर्म की ममता और फल की आशक्ति छोड़कर कर्म करना होगा। तब धीरे-धीरे बुद्धि के निश्चल हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है।

अर्जुन कर्म से बचना चाहता था इसी दृष्टि से उसने आत्म-साक्षात्कार का लक्षण जानना चाहा, भगवान ने बताया कि पहिले इन्द्रिय संयम् हो, फिर मन पर नियन्त्रण हो, फिर बुद्धि पर नियन्त्रण और इसके पश्चात् कामनाओं के सर्वथा समाप्त हो जाने पर ही आत्मानुभूति की स्थिति आती है। आत्म-आत्मा में सन्तुष्ट हो यह सबसे ऊँची स्थिति है।

आत्मानुभूति के लिये कर्म के झमेले में क्यों फँसा जाय? यही प्रश्न था जो अर्जुन ने तीसरे अध्याय के आरम्भ में किया है। इसके उत्तर में भगवान् ने बताया कि ज्ञान-योग और कर्म-योग दोनों ही आत्मदर्शन के साधन हैं तथापि सांसारिक प्राणियों के लिये ज्ञानयोग अत्यन्त कठिन है। कर्मयोग का साधन सरल है, उसके साधन में गड़बड़ी भी नहीं होती तथा ज्ञानयोग का पूरा आत्मचिन्तन उसमें रहता ही है। इसके अतिरिक्त यदि कर्मयोग की साधना में आसक्ति नहीं छूट पाती, तो लोकसंग्रह की दृष्टि से प्रकृति कर्म करती—यह सोचते हुए अथवा भगवान को अपने कर्तृत्व में साझीदार बनाकर कर्म किया जा सकता है। अन्त में कामवासना के सम्बन्ध में अर्जुन के प्रश्न करने पर भगवान ने बताया कि कर्मयोग में लग जाने पर इस कामवासना का अन्त बड़ी सरलता से हो जाता है।

चौथे अध्याय में पहिले तो भगवान ने अपने अवतार रहस्य का विवेचन किया फिर कर्मयोग की ज्ञानकारिता समझाई, कर्म-

योग के भेद बताये, और अन्त में कर्मयोग में रहनेवाले ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन किया।

ज्ञान की महत्ता को सुनकर अर्जुन का हृदय पुनः ज्ञानयोग के प्रति आकृष्ट हुआ अतः उसने पुनः प्रश्न किया जिसके उत्तर में भगवान् ने कर्मयोग की सुकरता, शीघ्र सफलता, कर्मयोग के कुछ प्रकार तथा आत्मचिन्तन का स्वरूप बताया।

कर्मयोग में कर्म करने के साथ-साथ आत्मचिन्तन भी करना पड़ता है। इस आत्मचिन्तन के लिये अभ्यास की विधि भी है इसका वर्णन भगवान ने छठे अध्याय में किया है इस प्रसंग में भगवान ने आत्मानुभूति के चार रूप वर्णन किये हैं, आत्मानुभूति की सबसे बड़ी बाधा मन की चञ्चलता है। अर्जुन ने इसके सम्बन्ध में पूछा तो भगवान् ने बताया कि इसको दूर करने का उपाय अभ्यास और वैराग्य है, अर्जुन के फिर यह प्रश्न करने पर कि कर्मयोगी की गति क्या होती है तो भगवान् ने बताया कि उसकी कभी दुर्गति नहीं होती, कर्मयोग की साधना के इस जन्म में अधूरे रह जाने पर भी साधक अगले जन्मों में उस साधना के पथ पर आगे बढ़ता है। छठे अध्याय के अन्त में भगवान ने अपनी ओर से भक्तियोग का उपक्रम कर डाला, अर्जुन ने इस पर कुछ पूछा नहीं। भगवान् को भक्तियोग बताना था इसलिये सातवें अध्याय में बिना रुके वे बताते चले गये। पहिले भगवत्तत्व का विवेचन किया, माया के चक्कर से छूटने के लिये शरणागति को साधन बताया फिर आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी ये चार प्रकार के भक्त बताये तथा ज्ञानी भक्त की प्रशंसा की, अन्त में भगवान् ने उन भक्तों की जो देवताओं के भोगों से बढ़कर ऐश्वर्य चाहते हैं। जो आत्मदर्शन (कैवल्य) के अभिलाषी हैं अथवा जो मुक्ति की कामना करते हैं।

इन तीनों प्रकार के भक्तों के लिये आवश्यक है कि वे प्रकृति, कर्म, विषय, अधिदैव पुरुष तथा भगवत्तत्व को जानने के साथ ही अन्तिम समय भगवत्स्मरण करें। इस सम्बन्ध में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने आठवें अध्याय में इन सब बातों का विवेचन किया और अन्त में मृत्यु के अनन्तर होनेवाली गति का वर्णन किया है।

नवें अध्याय में भगवान ने स्वयमेव पुनः भक्तियोग की चर्चा की उसे राजविद्या बताया इस प्रसंग में भगवान ने भगवत्तत्व के माहात्म्य का वर्णन किया और बताया कि भगवत्तत्व आधार, नियन्ता एवं शेषी है, सब पदार्थों की स्थिति और प्रवृत्ति भगवत्-संकल्प के आधीन है और उसी के संकल्प के अनुसार सबकी उत्पत्ति तथा प्रलय होता है। अवतारकाल में भगवत्तत्व का परत्व अक्षुण्ण रहता है। इसके पश्चात् भगवद्भक्तों के स्वरूप, गुणों एवं व्यवहार का वर्णन कर भगवान ने भक्ति की सर्व-सुलभता बताई।

दसवें अध्याय में भगवान ने पहिले संक्षेप में फिर अर्जुन के पूछने पर विस्तार से अपनी विभूति का वर्णन किया इससे प्रकट होता है कि भगवान के कल्याण गुण अनन्त हैं और सम्पूर्ण जगत उनके आधीन है।

ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने भगवान का साक्षात्कार करने की इच्छा प्रकट की। अर्जुन को दिव्य नेत्र देकर भगवान ने अपने विराट् स्वरूप का दर्शन कराया, इस रूप में अर्जुन ने देखा कि वह जिसे अपना कर्तृत्व समझे बैठा है वह भगवान का कार्य है।

गीता के दूसरे अध्याय से छठे तक आत्मदर्शन तथा सातवें से ग्यारहवें तक परमात्म दर्शन की चर्चा श्रवण करने के पश्चात्

अर्जुन के मन में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक था कि इन दोनों में कौन अधिक श्रेयस्कर है। बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने यही प्रश्न किया है इसके उत्तर में भगवान ने आत्म-दर्शन के साधन की अपेक्षा भक्तियोग को श्रेयस्कर बताया है इसके पश्चात् भगवान ने भक्ति के साधन और आत्मनिष्ठ के उपादेय गुणों का वर्णन किया है।

तेरहवें अध्याय में भगवान ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ (देह और आत्मा) की चर्चा की और कर्म - बन्धन के कारणों तथा आत्मतत्व के विवेक पर प्रकाश डाला है।

चौदहवें अध्याय में भगवान ने प्रकृति के तीनों गुणों का विवेचन किया है। पन्द्रहवें अध्याय में संसार तथा आत्मा की चर्चा करते हुये भगवान ने ईश्वर तत्व (परमात्मा) का वर्णन किया है।

सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पति का वर्णन कर भगवान ने अन्तिम दो श्लोकों द्वारा शास्त्र-विधि की आधी-नता का प्रतिपादन किया है। शास्त्रीय कर्म का विधान सुनकर अर्जुन ने सत्रहवें अध्याय के आरम्भ में शास्त्रविधि को छोड़-कर किये जानेवाले कर्म की स्थिति जाननी चाही। भगवान ने स्पष्टतया उसे आसुर बताकर शास्त्रीय कर्म के गुणानुसार तीन भेद किये—श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप और दान का इसी तारतम्य से वर्णन किया है।

अठारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने संन्यास और त्याग का स्वरूप पूछा इसका उत्तर देकर भगवान ने क्रमशः ईश्वर के कर्तृत्व, सत्वगुण की उपादेयता और वर्णाश्रम धर्म की चर्चा की इसके बाद एक बार पुनः ज्ञाननिष्ठा की तुलना में कर्म-निष्ठा की महत्ता बताकर भगवान ने भक्तियोग की चर्चा की इस

प्रकार कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग का वर्णन समाप्त करने के पश्चात् अन्त में भगवान ने शरणागति योग का उपदेश दिया।

शरणागति योग दयामय भगवान के बल पर कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी को जो सफलता मिलती है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान का आश्रय ग्रहण कर साधक सरलतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। अपने उपदेश के अन्तिम श्लोक (चरमश्लोक) में भगवान ने कहा है :—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥(गी० १८।६६)

आशय यह है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के आश्रय को छोड़ एक मेरी शरण में आ जाओ मैं तुम्हारे मार्ग में आनेवाली सारी बाधाओं से तुम्हें मुक्त कर दूंगा। शोक मत करो।

सब कर्म को तुम त्याग कर केवल शरण मेरी गहो।
मैं सर्व पापों से तुम्हें लूँगा बचा निश्शोक हो।

किस प्रकार भगवान की शरण ली जाय, इसके लिये भी गीता में ही एक बहुत ही प्रसिद्ध मंत्र है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

हमारे पूज्य गुरुदेव भगवान श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वती नैमिषारण्य का बताया हुआ एक सरल मंत्रः—

ॐ श्री हरिःशरणम् श्री हरिःशरणम् श्री हरिःशरणम्।

मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति)

धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये वेदों के पश्चात् मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) का स्वाध्याय मुख्य है।

इसमें जगत् की उत्पत्ति प्रथम अध्याय में, संस्कारों की विधि, ब्रह्मचारियों के आचरण, उपचार, गुरु आदि का अभिवादन, उपासना तथा स्नान आदि की परम विधि द्वितीयाध्याय में कही है।

(विद्याध्यन के पश्चात्) स्त्री प्राप्ति=विवाह व उसके लक्षण, प्रकार भेद, पञ्च महायज्ञों की विधि और प्राचीन श्राद्ध की विधि (तृतीयाध्याय में कही है। वृत्तियों (जीविका के उपायों) का लक्षण, स्नातक=गृहस्थ के व्रत-नियम (चतुर्थोध्याय में) भक्ष्य (क्या खाना पीना चाहिये) अभक्ष्य (क्या न खाना-पीना चाहिये) शौच=शारीरिक शुद्धता, तथा द्रव्यों की शुद्धता के नियम। स्त्रियों के धर्मयोग=धर्मोपाय (पञ्चमोध्याय में) तापस्य=तपस्वी=वानप्रस्थ के धर्म, मोक्ष-धर्म और संन्यासियों के धर्म (छठे अध्याय में), राजा का सब धर्म (समस्त राजनीति सप्तमाध्याय में) और कार्यों—ऋणादि के अभियोगों का निर्णय=विचार-साक्षियों से प्रश्न करने की विधि आदि (अष्टमाध्याय में) स्त्री-पुरुष (भार्या और पति) के परस्पर के धर्म, विभाग=विभाजन (हिस्से) करने के नियम, जुआ और अन्य कण्टक चोरी आदि कुकृत्यों को दूर करने की प्रणाली, वैश्य व शूद्रों के धर्मपालन प्रकार (नवमाध्याय में), वर्णसंकरों की उत्पत्ति और वर्णों के आपत्ति के धर्म-कर्म (दशमाध्याय) तथा प्रायश्चित्त अर्थात् कोई पाप-बुरा कर्म हो जाने पर स्वयं ही पश्चाताप-पूर्वक (दण्ड के समान) मानसिक, शारीरिक कष्ट सहन करना आदि की विधि (एकादशाध्याय में) बताई गई हैं। संसार में आने अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़ने के हेतु जो तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम, अधम, कर्म हैं उनका वर्णन और निःश्रेयस=मोक्ष प्राप्ति करानेवाले कर्मों का विचार और अच्छे-बुरे कर्मों की परीक्षा का प्रकार (द्वादशाध्याय में है)।

मनु महाराज ने इस ग्रन्थ में देशों के धर्म (चलन), जातियों के धर्म-कर्म, कुलों के धर्म, पाषण्डी धूर्त लोगों के प्रति कर्तव्य व्यवहार आदि का वर्णन किया है। इस (स्मृति) में सम्पूर्ण मानव-धर्म कहा गया है और कर्मों के गुण-दोष तथा चारों वर्णों का शाश्वत (परम्परा से होता आया) आचार भी कथन किया है।

इदं स्वस्तयनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम्॥

अर्थात् यह शास्त्र कल्याणकारी और बुद्धि का बढ़ानेवाला है, यह यशः प्राप्ति करानेवाला, आयु को बढ़ानेवाला और मोक्ष-प्राप्ति का भी परम् साधन है।

जैसा कि पहिले ही कहा गया है कि वेदों के अतिरिक्त धर्म ज्ञान के लिये मनुस्मृति का स्वाध्याय मुख्य आवश्यक है। यह हमारा अपना ही कथन नहीं है अपितु बहुत प्राचीन काल से बड़े-बड़े वैदिक विद्वानों द्वारा ऐसा कहा गया है। मनुस्मृति की महत्ता बताते हुए छान्दोग्य-ब्राह्मण में कहा है—'मनुर्वै यत्किंचिद्-भेषजं भेषजतायाः।' अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा है वह औष-धियों की भी औषधि है (कल्याण का परम् साधन है)।

आचार्य (गुरु) बृहस्पति कहते हैं—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोःस्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥

अर्थात् वेदार्थ के अनुकूल होने के कारण मनुस्मृति ही प्रधान है। मनुस्मृति के अर्थ=अभिप्राय से विरुद्ध जो भी अन्य स्मृतियाँ हैं वह ठीक नहीं कही जातीं (अतः अमान्य हैं) महर्षि दयानंद जी भी कहते हैं कि:—कुछ-कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर मनुस्मृति ही वेदानुकूल है अन्य स्मृति नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुस्मृति वेदानुकूल वैदिक ग्रन्थ है अतः उसका

स्वाध्याय तथा तदनुकूल आचरण करना मनुष्यमात्र विशेषतः आर्य (हिन्दू) जाति का मुख्य कर्त्तव्य है। यदि लोग इस प्राचीन सरल सुबोध धर्मशास्त्र का स्वाध्याय भली प्रकार करें तो वह न केवल अपनी समस्याओं का हल निकाल सकते हैं, अपितु संसार की बड़ी-बड़ी विकट समस्याओं के सुलझाने में भी समर्थ हो सकते हैं। क्योंकि किसी विशेष सम्प्रदाय को दृष्टि में रखकर इस ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हुआ था अपितु समस्त मानव जाति ही क्या बल्कि सर्वप्राणिमात्र को दृष्टि में रखकर इसकी रचना की गई थी। अतः इसके मनन द्वारा अपने कर्तव्य-अकर्तव्य (धर्म-अधर्म) को समझकर उसे क्रियात्मक रूप देकर अपने इस लोक और परलोक दोनों को सुधारते हुए परम् आनंद रूप मोक्ष की प्राप्ति में भी सफल हो सकते हैं।

मानव-धर्म शास्त्र (मनुस्मृति) के कुछ महत्वपूर्ण उपदेश—

विद्वभिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो योधर्मस्तं निबोधत॥

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिसका सेवन राग-द्वेष रहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसका हृदय, (आत्मा) सत्य कर्तव्य जाने, वही धर्म माननीय और करणीय है।

इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता (दोनों ही) श्रेष्ठ नहीं है (क्योंकि) वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं।

जो कोई कहे कि मैं निरेच्छ और निष्काम हूँ या हो जाऊँ तो वह कभी नहीं हो सकता क्योंकि—सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत, यम, नियम् रूपी धर्म आदि सङ्कल्प ही से बनते हैं।

क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो तो आँख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता।

मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र के संकोच-विकास का होना भी सर्वथा असम्भव है इससे यह सिद्ध होता है कि (मनुष्य जो कुछ भी करता है वह चेष्टा कामना के विना नहीं है। इस संसार में कामना रहित की कहीं कोई भी क्रिया नहीं दीखती। मनुष्य जो कुछ भी करता है वह इच्छा का ही किया हुआ है।

इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषि-प्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपनी आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, लज्जा, शंका, संकोच, जिन कर्मों के करने में न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो, जब कोई मिथ्या भाषण, चोरी आदि की इच्छा करता है तभी (उस समय तत्काल) उसके आत्मा में भय, शंका, लज्जा, अवश्य उत्पन्न होती है। इसलिये वह कर्म करने योग्य नहीं।

धर्म का मूल, सम्पूर्ण (चारो) वेद तथा उन वेदों के ज्ञाता ऋषियों के ग्रन्थ=स्मृतियाँ व शील-स्वभाव गुण, सज्जन पुरुषों का आचरण और आत्मा को सन्तोष देने वाले कर्म (जिनके करने में भय आदि न होकर सन्तोष-शान्ति मिले) हैं अर्थात् उक्त वेद, स्मृति, सत्पुरुषों के और आत्मा को सन्तुष्ट करनेवाले कर्म ये चार धर्म के मूल हैं। इन्हीं से धर्म जाना जाता है।

विद्वान् मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध (इन सबका) अच्छे प्रकार विचार करके श्रुति-प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥

श्रुति वेद को और स्मृति धर्मशास्त्र को कहते हैं। ये सब कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विषयों में निर्विवाद है क्योंकि इनके द्वारा ही धर्म का भली प्रकार पूर्ण रूप से प्रकाशन हुआ है। इनसे सब कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भवः स्वरितीति च॥

प्रजापति ब्रह्मा ने ३ वेदों से ये अ, उ, म्, (३ अक्षर) और भूः, भूवः और स्वः (ये ३ व्याहृति) सार रूप हैं।

इस प्रकार ३ वेदों से परमेष्ठी प्रजापति ने पाद-पाद करके सावित्री (गायत्री) मन्त्र के तीन पाद किये।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥

ओंकारपूर्वक ये तीनों महाव्याहृतियाँ (भूर्भुवः स्वः) अक्षर परमात्मा की प्राप्ति कराने के साधन हैं। और ३ पाद वाली सावित्री (मन्त्र) भी ब्रह्म = वेदों का मुख आदि है इसी से वेद के अध्ययन का आरम्भ होने से अथवा ब्रह्म = परमात्मा की प्राप्ति का मुख (द्वार) है।

एकाक्षर ओंकार परम ब्रह्म है। परब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से प्राणायाम् (कमसे कम ३, बहुवचन निर्देश होने के कारण, परम् तप है और सावित्री (गायत्री मन्त्र) से उत्कृष्ट और कोई मन्त्र नहीं है। मौन रहने से सत्य बोलना विशिष्ट (उत्तम) है।

जैसे सारथि घोड़ों को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाती हुई इन्द्रियों को रोकने में सदा प्रयत्न किया करे।

पहिले के मनीषी विद्वान् पुरुषों ने जिन एकादश (११) इन्द्रियों को कहा है उनको यथावत् क्रमपूर्वक कहता हूँ।

कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग), हाथ, पग, वाणी, ये दस (१०) इन्द्रियाँ इस शरीर में हैं। इनमें (क्रमशः) कर्ण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। ग्यारहवाँ इन्द्रिय मन है वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार की इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों (पंचक इन्द्रिय) संघ जीत लिये जाते हैं।

ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निस्सन्देह दोषी हो जाता है और पूर्वोक्त दश इन्द्रियों को वश में करके ही, सिद्धि को प्राप्त होता है।

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से (अग्नि) बढ़ता जाता है वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिये।

जितेन्द्रिय उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुनकर हर्ष और निंदा सुनकर शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख, दुष्ट-स्पर्श से दुःख, न करे, सुन्दर रूप देखकर प्रसन्न और दुष्ट रूप देखकर अप्रसन्न न हो, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित न हो। सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता है।

सब इंद्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय विषय में वह (फँस) जाती है तो उस (एक ही इन्द्रिय के दोष) से उसकी (विषयी पुरुष की) (अन्य इन्द्रियों की) प्रज्ञा-तत्वज्ञान भी नष्ट हो जाता है। जैसे कि चर्म-जलपात्र (मसक) में एक ही छिद्र के हो जाने

से सारा पानी निकल (बह) जाता है।

ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किंचित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे इसलिये ब्रह्मचारी पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार-विहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे।

जहाँ (जिस शिष्य में) धर्म और पुरुषार्थ अथवा अर्थ= धन वा तदनुकूल (गुरु के अनुकूल) सेवा-भावना-भक्ति न हो वहाँ (उस शिष्य को) विद्या नहीं पढ़ानी चाहिये। क्योंकि ऐसा ऊषर-करना, बंजर भूमि में उत्तम बीज का बोना है। अतः शिष्य को धार्मिक, निष्कपट, पुरुषार्थी और गुरुभक्त होना चाहिये।

ब्रह्मवादी=वेदाध्यापक का विद्या के साथ ही मर जाना अच्छा है किन्तु घोर आपत्ति के समय में भी अयोग्य अपात्र को पढ़ाना ठीक नहीं है।

विद्या ने ब्राह्मण (अध्यापक) के पास जाकर कहा—मैं तेरी निधि हूँ। मेरी रक्षा कर। मुझे कभी किसी असूयक (निन्दक= दुरुपयोग करनेवाले) को मत देना तभी मैं अत्यन्त बलवती होऊँगी।

जिस (शिष्य को) तू पवित्र संयत ब्रह्मचारी समझ उस (मुझ कल्याण की) निधि के रक्षक, (शिष्य) को ही पढ़ा— अतः विद्यार्थी को असूयक (निन्दक=विद्या का दुरुपयोगी) न होना चाहिये। उसे पवित्र ब्रह्मचारी, विद्या=वेद का रक्षक तथा अप्रमादी होना चाहिये।

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अंगों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना है किन्तु यही

धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में (वाद-विवाद में) उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो वही बड़ा है।

अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से, और बड़े कुटुम्ब के होने से वृद्ध नहीं होता किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में अधिक है वही वृद्ध पुरुष कहाता है।

ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन-धान्य से और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है।

उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे उसका सिर झूल जाय, केश पक जावें किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान है उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है।

आचार्य, माता, पिता, बड़े भाई इन सबका कभी भी (दुःखी होने पर भी) अपमान न करे। इस बात का ध्यान ब्राह्मणों को तो विशेष रूप से रखना चाहिये। क्योंकि आचार्य वेद की मूर्ति, पिता प्रजापति (ब्रह्मा) की मूर्ति, माता पृथ्वी की और अपना सगा भाई अपनी ही मूर्ति है।

उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म को ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री का ग्रहण करे, यह नीति है। इसमें से गृहस्थाश्रम से पूर्व ब्रह्मचर्या-श्रम सम्पन्न होकर कहीं-न-कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहस्थाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे।

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठ भाषण और नाना प्रकार की शिल्प विद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे।

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह होता है।

जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी, इन तीनों आश्रमियों को अन्न-वस्त्रादि दान से नित्य प्रति गृहस्थ धारण-पोषण करता है इसलिये व्यवहार में गृहस्थाश्रम सबसे बड़ा है।

ऋषि, पितर (पिता आदि वानप्रस्थ) देव (विद्वान लोग) जीव-जन्तु तथा अतिथि (उत्तम ब्राह्मण=संन्यासी जन) गृहस्थ कुटुम्बी जनों से कुछ आशा करते हैं अतः इस बात को जानते हुए गृहस्थ को चाहिये कि उनके लिये पंच महायज्ञ रूप नित्य कर्मों को करे।

धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों को अतिथि कहते हैं।

अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि आने की निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् आनेवाला धार्मिक सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला पूर्ण विद्वान परमयोगी, संन्यासी अतिथि होता है।

पर्व (त्यौहार)

भारतवर्ष के लिये आठ दिन और नौ त्यौहार वाली कहावत प्रसिद्ध है। हमारे ये पर्व जीवन में रस और समाज में जीवन पैदा करते हैं क्योंकि ये पर्व हमारे सामुदायिक जीवन को संतुलित रखते हैं और राष्ट्र के अभ्युदय के लिये आवश्यक तत्व हैं। हम भिन्न होते हुये भी अभिन्न हैं–'बहुत्व' में 'एकत्व' का सन्देश हमारे पर्वों में निहित है। जैसे गायें भिन्न-भिन्न रंगों की होती हैं परन्तु उनके दूध का रङ्ग एक जैसा होता है। ठीक इसी प्रकार हम अनेक होकर भी एक हैं। हमारे धार्मिक, सामाजिक,

पौराणिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं लक्ष्य समान हैं इसके अतिरिक्त इन पर्वों के साथ ऐतिहासिक, पारमार्थिक एवं राष्ट्रीय तत्वों का सम्बन्ध है।

होली—होलिकोत्सव की गगन-भेदी ध्वनि से हम सभी गगन धूलि की भाँति एक आकार के एक विचार के उमड़ आते हैं। होली क्या है ? संस्कृत में होलका (होला) अधपके अन्न को कहते हैं। प्रतीत होता है, वसन्त ऋतु में किसी प्राकृतिक विकार की निवृत्ति के लिए होलिकोत्सव पर होला चबाने की चाल चली। इसीलिये हम चने आदि लाठी में बाँधकर जलती हुई होली की लपट में सेंकते हैं। होली को वसन्त में उत्पन्न नवीन धान का यज्ञ (वासन्ती नवशस्येष्टि) भी कहा गया है। इसी होलिकोत्सव के अवसर पर प्राकृतिक सौरभ अपने विकसित रूप में होता है और भारतीय भी एक दूसरे पर रङ्ग गुलाल फेंककर इसकी टक्कर लेते हैं। एक ओर पक्षियों की चहचहाहट, तो दूसरी ओर भीड़ की चिल्लाहट। फूलों के विकसित होने के साथ मानव-पुष्प भी विकसित होते हैं और वे अपनी पुरानी भूलों को भूलकर अपने में नवीन चेतना का संचार करते हैं। इस दिन हिरण्य-कश्यप के राजत्वकाल में,प्रहलाद की बुआ अत्याचारिणी होलिका का दहन हुआ और भगवान के अटल प्रताप से भक्तवर-प्रहलाद की रक्षा हुई।

यह दहन अशिष्टता, दुराचरण, विवेक-शून्यता, अत्याचार, क्रोध, ईर्ष्या और द्वेष का है और विजय है प्रहलाद की आनन्द और प्रमोद की, सदाचार और भगवन्नाम की, भक्ति, एकनिष्ठा, श्रद्धा और प्रेम-की होली का यह शुभ-दिवस इसी पुण्य स्मृति में सजधज से, धूमधाम से मनाया जाता है। इसी पर्व पर हम एक दूसरे की शिकायतों को भूलकर परस्पर गले मिलते हैं, प्रेमा-

लिंगन करते हैं, स्नेहालिंगन करते हैं। यह आलिङ्गन शारीरिक नहीं अपितु मानसिक होता है और इसका महत्व सांस्कृतिक है। याद रखें, होली हास-उल्लास का त्यौहार है पारस्पारिक-सम्मिलन का पर्व है समस्त भेद-भावों से दूर परस्पर स्नेह और सहयोग का प्रतीक है।

रक्षा-बन्धन—यह पर्व श्रावण-पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। इस दिन ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्यों आदि को और बहनें भाइयों के 'रक्षा' बाँधती हैं। उन्हें आशीर्वाद देती हैं और उनसे वचन लेतीं, वर माँगती हैं। भाई की दृढ़ कलाई पर राखी बाँधते हुए नारी श्रद्धा-सहज-उमंग किन्तु आँखों की भाषा से प्रश्न पूछती है— 'क्या घनघोर घटाओं से मेरी रक्षा कर सकोगे? क्या है इतना साहस और बल? तब मानवता का यह प्रतीक-पुरुष-हर्षोल्लास में अपना हाथ आगे बढ़ाते हुये वर देता है—वचन-बद्ध होता है— देवी, मैं प्राण दूँगा पर घनघोर घटाओं को तुझपर बरसने न दूँगा। वास्तव में यही रक्षा का छू-मन्त्र है, मेरुदण्ड है। यह आध्यात्मिक, नैतिक एवं मानसिक बंधन हमें वचन को पूर्ण करने के लिये बाध्य करता है। कठिनाइयों और बाधाओं की बढ़ती का अवरोध करना होगा और तूफान से टकराना होगा। हमें अपने पथ पर लोहे की दीवार की भाँति दृढ़ रहना होगा ताकि विघ्नों से टक्कर लेकर उन्हे चूर-चूर कर सकें। हमें उत्तुङ्ग-गिरि-शृङ्गों की भाँति कठिनाइयों के मेघों का डटकर मुकाबला करना होगा। इसी प्रत्याक्रमण के फलस्वरूप ये मेघखण्ड चूर-चूर होकर पानी की बूँदों के रूप में तप्त-पृथ्वी को शीतल करेंगे। अपने वचन को देश की रक्षा, गौ और बहन की रक्षा-पूरा करने के लिये हमें—खड़ा हिमालय बता रहा है डरो न आँधी पानी में, की भाँति अग्रसर होना है और यही इस पर्व का पावन सन्देश है।

विजया दशमी—

ऋत वानरों का संघ सुदृढ़ बनाके जहाँ,
रावण की राजधानी लूट जै श्री हरी।
संगर में लंगर लगाये वीर कूद पड़े,
यातुधान वाहनी की वीरता वशी करी ॥

यह उत्सव लंका के राजा रावण पर भगवान राम की विजय के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। जिस धूमधाम और सजधज से यह समारोह मनाया जाता है वह अपना उदाहरण आप है। यह उत्सव हमें भगवान राम की पितृ-भक्ति के सर्वोच्च आदर्श का स्मरण दिलाता है। भरत का भ्रातृ - प्रेम, लक्ष्मण की वीरता, त्याग, और भ्रातृ-भक्ति तथा सीताजी के अखण्ड-पातिव्रत-धर्म की पुण्य-स्मृति का द्योतक यह त्यौहार है। अतः यह उत्सव धर्म की अधर्म पर विजय विशेष रूप से परिचायक है। लंका की विजय से पूर्व भगवान राम ने दुर्गा की पूजा की थी। इसलिये इसे दुर्गा पूजा के रूप में भी देश के किन्हीं प्रदेशों में मनाया जाता है। यह पुण्य तिथि नवीन कार्यों के श्रीगणेश करने के लिये सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। भारत की अनेक राष्ट्रीय-सामाजिक संस्थाओं की स्थापना इसी शुभ दिवस पर हुई है। यह त्यौहार दुराचार, नारी अपहरण, पर अहंकार और अत्याचार एवं सदाचार पर चरित्रत्व की विजय है। यह उत्सव मानों उत्तुंग-गिरि-शृंग से गगन-भेदी ध्वनि में विजय की घोषणा करता है और ललकार कर कहता है कि सतत परिश्रम, दृढ़ आस्था एवं अटल श्रद्धा का शुभ परिणाम् विजय है। विजया दशमी विजय की द्योतिका है।

दीपावली—दीवाली हमारे मन के बुझे दीपों को जलाती है और टिमटिमाते हुये दीपों को अधिक प्रज्वलित करती है। इस

दिन हम बाहरी कूड़ा - कचरा निकालते हैं परन्तु दीवाली का मनाना तभी लाभदायक होता है जब हम अपने भीतरी कूड़े अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि को निकालकर सत्य, मैत्री, प्रेम, नम्रता, देश-प्रेम और स्वाध्याय-दीपकों से अपने मन-मन्दिर को प्रज्वलित करें प्रकाशित करें। ऐतिहासिक दृष्टि से इस दिन भगवान रामचन्द्र चौदह वर्ष के वनवास के पश्चात् लंकापति रावण का वध कर अपनी महारानी सीता जी सहित अयोध्या लौटे थे। उनके शुभागमन के उपलक्ष्य में, उस हर्षोल्लास में नगर को दीपमाला से सुशोभित किया गया। दीपों की महरावें बनीं और ज्ञान का प्रकाश फैला। वर्षा ऋतु के पश्चात् मलेरिया का भय रहने से हम घर की सफाई करते हैं; इस तरह यह उत्सव वैज्ञानिकता का परिचायक भी है। महाराज युधिष्ठिर ने इसी पुण्यतिथि पर राजसूययज्ञ समाप्त किया था, और इसी दिन महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी को निर्वाण-पद प्राप्त हुआ। लम्बी रातों वाली शीत-ऋतु के प्रारम्भ होने के पूर्व इस प्रकाश-मय त्यौहार का मनाया जाना प्रतीकात्मक रूप से अन्धकार पर प्रकाश की अज्ञान पर ज्ञान की, और निर्धनता पर वैभव की विजय का द्योतक हो सकता है इस प्रकार से ये दीपज्ञान, ज्योति, तप, वैभव और विजय के दीप हैं और हैं लक्ष्मीजी के आवाहनार्थ-स्वागतार्थ।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से पर्व हैं जिनका महत्व अद्वितीय है, जैसे कि शिवरात्रि, दुर्गाष्टमी, श्रीरामनवमी, जन्माष्टमी, वसंत पंचमी आदि। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक राष्ट्रीय त्यौहारों का प्रचलन हुआ जैसे कि स्वाधीनता दिवस अर्थात् १५ अगस्त, गणतंत्र दिवस (२६ जनवरी) गाँधी जयन्ती आदि प्रमुख हैं। इनका महत्व राष्ट्रीय है और ये हैं

हमारे राष्ट्रीय त्यौहार; देश के कई भागों में शहीदों का दिन भी मनाया जाता है। यह दिन उन अमर सैनिकों की याद दिलाता है, जिन्होंने स्वतंत्रता के यज्ञ में अपने को होम दिया।

श्रीसत्यनारायण व्रत कथा—पूरे भारतवर्ष के हिन्दू घरों में सत्यनारायण व्रत कथा का प्रचलन है। इसके प्रथम अध्याय में ही इस कथा की उत्पत्ति, करने की विधि तथा करने का फल निम्नप्रकार से वर्णन है।

व्यास उवाच—एकदा नैमिषारण्ये ऋषयः शौनकादयः।
पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे सूतं पौराणिकं खलुः॥ १॥
ऋषयः ऊचुः—व्रतेन तपसा किं वा प्राप्यते वांछितं फलम्।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामः कथयस्व महामुने॥ २॥
सूत उवाच—नारदे नैव संपृष्टो भगवान्कमलापतिः।
सुरर्षये यथैवाह तच्छृणुध्वं समाहिताः॥ ३॥
एकदा नारदो योगी परानुग्रहकांक्षया।
पर्यटन्विविधान् लोकान्मर्त्यलोकमुपागतः॥ ४॥

व्यासजी बोले कि एक समय नैमिषारण्य में शौनिक आदि सब ऋषि मुनियों ने पुराणों के ज्ञाता सूतजी से पूछा कि मन चाहा फल किस व्रत व तप से प्राप्त किया जाता है। महामुने! यह कहने की कृपा करें हम सुनना चाहते हैं। सूतजी बोले कि यही प्रश्न एक समय नारदजी ने भगवान् विष्णु से किया था उन्होंने देवऋषि को जो उत्तर दिया था वह सब ध्यान से सुनो। एक समय योगिराज नारदजी दूसरों के हित की इच्छा से अनेक लोकों में घूमते हुए मनुष्य लोक में पहुँचे। वहाँ बहुत योनियों में जन्मे हुए प्रायः सभी मनुष्यों को अपने कर्मों के द्वारा अनेकों दुखों से पीड़ित देखा। किस यत्न के करने से निश्चय ही इनके दुखों का नाश हो सकेगा। ऐसा मन में सोचकर नारद विष्णु-

लोक को गये भगवान विष्णु को देखकर स्तुति करने लगे—नारदजी बोले हे भगवान् आप अत्यन्त शक्ति से सम्पन्न हैं। मन तथा वाणी आपको नहीं पा सकते आपका आदि मध्य और अन्त नहीं है। निर्गुण स्वरूप होते हुए अनन्त गुणों से युक्त हो सम्पूर्ण सृष्टि के आदिभूत और भक्तों के दुःखों को नष्ट करनेवाले हो, आपके लिये मेरा नमस्कार है। नारदजीसे इस प्रकार की स्तुति को सुनकर विष्णु भगवान् बोले तुम किसलिये आये हो और तुम्हारे मन में क्या है। हे महाभाग जो पूछोगे वह सब मैं तुमसे कहूँगा। नारदजी बोले कि मृत्युलोक में सब मनुष्य जो अनेक योनियों में पैदा हुए हैं और अपने कर्मों के द्वारा अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी हो रहे हैं। हे नाथ यदि आप मुझ पर दयाभाव रखते हैं तो बतलाइये कि उन मनुष्यों के दुःख थोड़े से प्रयत्न से ही कैसे दूर हो सकते हैं। श्रीभगवान बोले हे नारद सुनो। बहुत पुन्य का दान देनेवाला स्वर्ग तथा मर्त्य दोनों लोकों में दुर्लभ एक व्रत है, आज मैं प्रेमवश होकर तुमसे उसे कहता हूँ। सत्यनारायणजी का व्रत अच्छी तरह विधान के साथ करके मनुष्य तुरन्त ही यहाँ सुख भोगकर मरने पर मोक्ष को प्राप्त होता है। भगवान् के यह वचन सुनकर नारद बोले कि उस व्रत का फल क्या है? क्या विधान है और किसने उस व्रत को किया है और किस दिन इस व्रत को करना चाहिये। सब विस्तार से बताने की भगवान कृपा करें, तब भगवान् ने कहा कि दुःख शोकादि को दूर करनेवाला, यह धनधान्य को बढ़ानेवाला, सौभाग्य तथा सन्तान का देनेवाला, सब स्थानों पर विजय करनेवाला है। भक्ति और श्रद्धा के साथ जिस किसी भी दिन मनुष्य श्रीसत्यनारायण भगवान् का सायं समय ब्राह्मणों और बन्धुओं के साथ परायण होकर पूजा करे। भक्तिपूर्वक

सवामा (जितना परिमाण) सवाया, वह दे करके नैवेद्य दे केले का फल, घी, दूध और गेहूँ का चूर्ण देवे, गेहूँ के अभाव में शाठी का चूर्ण, शक्कर या गुड़ दे परन्तु सब भक्षण योग्य पदार्थ इकट्ठे करके सवाए पर अर्पण करे, सबके साथ कथा सुनके ब्राह्मण को दक्षिणा देवे तथा बन्धुओं सहित भोजन करावे, भक्ति के साथ स्वयं भोजन करें सत्य का आचरण करे और फिर सत्यनारायण भगवान् का स्मरण करता हुआ अपने कर्तव्य कर्म को करता रहे, इस तरह करने पर मनुष्यों की इच्छा निश्चय ही पूरी होती है। विशेषकर कलिकाल पर यही सरल उपाय है। श्रीसत्यनारायण व्रत कथा के प्रथम अध्याय का यही सार है। अन्य चार अध्यायों में इस व्रत के प्रारम्भ में करनेवालों की कथाएँ हैं। कथाओं के पहिले ही श्रीसत्यनारायण-व्रत पूजन की विधि भी श्रीसत्यनारायण व्रत कथा की पोथियों में रहती है कथा कहनेवाले पण्डित इनमें पूजनादि क्रिया कुछ पहिले और कुछ बाद में करवाते हैं। इस सत्यनारायण व्रतकथा की महत्ता भारतीय हिन्दू-परिवारों में बहुत अधिक है विवाह आदि हर संस्कार तथा उत्सव में प्रायः लोग इस व्रत कथा को प्रारम्भ या अन्त में अवश्य करते हैं। अपनी सरल-सुबोध, और आकर्षक विधि के कारण जितनी इस व्रत कथा को लोकप्रियता प्राप्त हुई है और किसी व्रत को नहीं प्राप्त हुई। इस व्रत कथा का मनन करने से यही समझ में आता है कि सत्य ही नारायण (परमात्मा) है। उसी का आश्रय व्रत-पूजन अर्थात् सत्य बोलना सत्य आचरण करना, सत्य व्यवहार करना, यही सफलता का मूल मन्त्र हमें श्रीसत्यनारायण व्रत कथा से प्राप्त होता है।

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदय साँच है ताके हिरदय आप॥

इस प्रकार भारतीय धर्म-संस्कृति के आधार-स्तम्भों का जिनका कि मूल श्रोत वेद है। सहस्रों धाराओं से अनेकानेक ग्रन्थों-वाणियों, पर्वों, व्रतों के रूप से हमें यह अमर मन्त्र देता है कि—यतो धर्मस्ततो जयः। अर्थात् जिधर सत्य है उसी तरफ धर्म है और जहाँ धर्म है वहीं विजय है, सफलता है।

भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति

वैदिक युग से भारत में शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास, राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण तथा जातीय उत्थान के लिये आवश्यक समझी जाती रही है। प्राचीन शास्त्रकारों ने इस प्रकार की अनेक उपयोगी व्यवस्थाएँ की थीं, जिनसे राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध न होने पर भी इसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। पहिली व्यवस्था ब्रह्मचर्य-आश्रम की थी, प्राचीन ऋषियों ने मानव-जीवन के जिन चार आश्रमों में बाँटा था, उनमें पहिला आश्रम विद्याभ्यास के लिये था। दूसरी व्यवस्था उपनयन-संस्कार सब द्विजों के लिये आवश्यक थी, निश्चित अवधि तक इसके न करने अर्थात् विद्याभ्यास में शिथिलता दिखाने से उच्च व्रात्य या जाति-च्युत समझे जाते थे। शिक्षा के महत्व को सबके चित्त पर भली भाँति अंकित करने के लिये तीसरी व्यवस्था यह थी कि स्नातक को पुराने जमाने में राजा से अधिक प्रतिष्ठा दी गई थी। चौथी व्यवस्था ऋषि-ऋण का विचार था, इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह न केवल पुत्र को जन्म देकर पितृ-ऋण से मुक्त हो अर्थात् इसके अतिरिक्त अध्ययन द्वारा ऋषि ऋण को भी उतारे। पाँचवीं व्यवस्था यह थी कि हिन्दू शास्त्रकारों ने ज्ञान का प्रसार करने वाले ब्राह्मणों को न केवल नाना प्रकार के दानों का अधिकारी बताया किन्तु उन्हें करों से मुक्त कर दिया। राजाओं ने अपने

उदार दानों से काशी, नालंदा, विक्रमशिला, उदन्तपुरी आदि शिक्षालयों के विकास में पूरी सहायता दी। यही कारण है कि प्राचीन काल में जितनी साक्षरता भारत में थी, उतनी उस समय किसी दूसरे देश में नहीं थी, राजा अश्वपति और दशरथ का यह दावा था कि उनके राज्य में कोई अशिक्षित नहीं है। प्राचीन शिक्षा-पद्धति से भारत ने न केवल सैकड़ों वर्षों तक मौखिक परम्परा द्वारा विशाल वैदिक वाङ्मय को सुरक्षित रखा, किन्तु प्रत्येक युग में दर्शन, न्याय, गणित, ज्यौतिष, वैद्यक, रसायन आदि शास्त्रों में ऐसे मौलिक विचारक विद्वान् उत्पन्न किये जिनसे भारत का मस्तक आज भी ऊँचा है।

ब्रह्मचर्य आश्रम और उपनयन संस्कार—ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था उपनयन का अर्थ है— समीप जाना। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर, विद्याभ्यास के लिये उसका शिष्य बनता था, उपनयन चिरकाल तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये अनिवार्य नहीं था, किन्तु वैदिक साहित्य अध्ययन और संरक्षण के लिये इसे आवश्यक बना दिया गया, ब्राह्मणों, उपनिषदों और सूत्र-ग्रन्थों के निर्माण के बाद धार्मिक साहित्य इतना विशाल हो गया कि उसकी रक्षा के लिये समूचे समाज का सहयोग आवश्यक प्रतीत हुआ, अतएव उपनयन संस्कार को तीनों वर्णों के लिये आवश्यक बना दिया गया। इसके न करने पर व्यक्ति समाज से पतित एवं बहिष्कृत समझा जाता था (मनु २। ३९) आज शिक्षा राज्य द्वारा अनिवार्य बनाई जाती है उस समय धर्म ने इसे आवश्यक बनाया, इसका परिणाम यह हुआ कि आर्य जाति के सब सदस्य थोड़ा बहुत वैदिक ज्ञान अवश्य प्राप्त करते थे। प्राचीन शिक्षा-पद्धति का आदर्श सादा जीवन तथा उच्च विचार था। अतः

सभी नियम इसी को ध्यान में रखकर बनाए गये थे। ऋषियों का यह मत था कि आमोद-प्रमोद में विद्याभ्यास में बाधा पड़ती है।

भिक्षा-वृत्ति—कई स्मृतियों में यह व्यवस्था मिलती है कि ब्रह्मचारी अपने लिये गाँव से भिक्षा माँगकर लाए। अथर्ववेद में भिक्षाचरण (११।५।६) का स्पष्ट उल्लेख है भिक्षा के नियम का उद्देश्य ब्रह्मचारी को नम्र बनाना तथा यह ज्ञान कराना था कि वह समाज की सहायता और सहानुभूति से ज्ञान प्राप्त कर रहा है। उसे उसके प्रति अपने कर्तव्य में जागरुक रहना चाहिये। भिक्षा के नियम का एक बड़ा लाभ यह था कि इससे निर्धन और धनी दोनों शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। भिक्षा की व्यवस्था समाज को भी इस कर्तव्य का बोध कराती थी कि नई पीढ़ी की शिक्षा के लिये उसे यत्न करना चाहिये, ब्रह्मचारी प्राचीन संस्कृति का संरक्षक तथा उसे आगे बढ़ानेवाला था। इससे समाज का लाभ था, अतः हिन्दू शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी को भिक्षा देना सब गृहस्थों का आवश्यक कर्तव्य निर्धारित किया था और ब्रह्मचारी पर भी यह बन्धन लगाया था कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक भिक्षा नहीं लेगा, यदि वह ऐसा करता है तो चोरी का महापाप करता है।

गुरुकुल-पद्धति—ब्रह्मचारी शिक्षा काल में प्रायः गुरु के पास रहते थे इसीलिये उन्हें अन्तेवासी कहा जाता था। शिक्षा समाप्त करने पर जब वे लौटते थे तो उनका समावर्तन होता था। गुरु के यहाँ विद्यार्थियों को भोजन कई कारणों से श्रेयस्कर समझा जाता था। गुरु की वैयक्तिक देख-रेख में शिक्षा अच्छी होती थी। काशी (वाराणसी) के राजा यह समझते थे कि इससे राजपुत्रों का अहंकार भंग होता है वे आत्मनिर्भर रहते हैं। दुनिया का

अच्छा ज्ञान प्राप्त करते हैं, गुरुकुलों में प्रायः विद्यार्थी प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उच्च-शिक्षा के लिये ही भेजे जाते थे। तक्ष-शिला में जानेवाले विद्यार्थियों की आयु कई जातकों में स्पष्ट रूप से १६ वर्ष बताई गई है।

गुरू-शिष्य के सम्बन्ध प्राचीन शिक्षा-पद्धति की एक बड़ी विशेषता गुरू और शिष्य का सुमधुर पारिवारिक सम्बन्ध था शिष्य गुरू आश्रम पर जाकर उसके परिवार का सदस्य बनकर रहता था गुरू अपने पुत्र की तरह उसका पालन करता था।

सातवीं शती में भारत आनेवाले चीनी यात्री इत्सिंग के विवरण से यह ज्ञात होता है कि वे इस नियम का पालन करते थे। जब शिष्य बीमार पड़ते थे, तो गुरु उनकी परिचर्या भी किया करते थे।

पाठ्य विषय—उस समय के पाठ्य-विषयों का परिचय छन्दोग्योपनिषद् के एक संदर्भ से मिलता है। (१० । १ । २) इसमें दर्शन की उच्च-शिक्षा पाने के लिये सनत्कुमार के पास आये नारद ने कहा है कि—'भगवन् मैंने वेद-वेदांग के अति-रिक्त इतिहास, पुराण, गणित, (राशि) ज्योतिष, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या, देव, भूकम्प, वायु-कोप आदि प्राकृतिक भूगोल अथवा भविष्यत्कथन की विद्या, निधि (खनिज विद्या अथवा गड़े खजाने का पता लगाने का विज्ञान) वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र), ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, (प्राणि-शास्त्र), राजशासन विद्या (सैनिक विज्ञान तथा राजशास्त्र), एकायन विद्या नीति-शास्त्र का अध्ययन किया है।'

जातकों से यह ज्ञात होता है कि तक्षशिला में ब्राह्मण और

क्षत्रिय युवक वेदों और अठारह शिल्पों का अभ्यास करते थे इन शिल्पों में धनुर्विद्या, वैद्यक, जादू, सर्पविद्या, गणित, कृषि, पशुपालन व्यापार आदि का समावेश होता था। इस युग में भारत ने दर्शन-साहित्य, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, कार्य-चिकित्सा शल्य-चिकित्सा मूर्ति, भवन तथा पोत निर्माण-विद्या में बड़ी उन्नति की। विद्वानों का ध्यान व्याकरण, न्याय, उपनिषद्, दर्शन और धर्मशास्त्र की ओर था। स्मृति, पुराणों और निबंध-ग्रन्थों के युग में वेदों का महत्व कम हो गया व्याकरण, दर्शन, आदि विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

पाठ्य-प्रणाली—प्राचीन काल में पाठ्य-प्रणाली प्रधान रूप से गुरु मुख से पाठ-श्रवण करने तथा उसे दोहराने और प्रश्न पूछ कर ज्ञान प्राप्त करने की थी। इसका कारण यह था कि वेद उस समय लिखित रूप में नहीं थे, लेखन-कला से भली-भाँति परिचित होने पर भी भारतीयों ने वेदों को कई कारणों से लिपिबद्ध नहीं किया था। ऐसा होने से भगवती श्रुति के अप-वित्र हाथों में पड़ने की आशंका थी। लिपिकारों के अज्ञान और प्रमाद से वेद के स्वरों और वर्णों के दूषित ढंग से लिखे जाने की संभावना थी। आठवीं, नवीं शती में काश्मीरी पण्डित 'बसुक' ने पहिली बार वेदों को लेखबद्ध करने का साहस किया। उस समय तक शिक्षा मौखिक ही होती थी। गुरु एक-एक विद्यार्थी को अलग पढ़ाता, उसका पाठ सुनता और गल-तियाँ ठीक करता था। इस पद्धति के कई लाभ थे, गुरु सब विद्यार्थियों पर वैयक्तिक ध्यान देता था। इसका अभाव वर्तमान शिक्षा-पद्धति की सबसे बड़ी कमी है। पुरानी पद्धति में पुस्तकीय

शिक्षा पर बल न होने से विद्यार्थी प्रत्येक विषय को खूब सोच-समझकर याद करता था। यह कहना गलत है कि उस समय की शिक्षा-पद्धति में रटना और घोटना ही प्रधान था। यास्काचार्य और सुश्रुत ने घोटने की घोर निन्दा की है। सुश्रुत में रटनेवाले छात्र की उस गधे से तुलना की गई है जो अपने पर बोझ को तो अनुभव करता है किन्तु यह नहीं जानता कि वह किस वस्तु का बोझ है। वेद का अध्ययन वेद-मन्त्रों की व्याख्या के साथ होता था। समूचा ब्राह्मण-साहित्य इसी प्रकार की रचना है। प्राचीन पाठ्य-पद्धति की यह बड़ी खूबी थी कि वह समझकर ग्रन्थ कण्ठस्थ करने पर बल देती थी, उस पद्धति से पढ़े व्यक्तियों का पाण्डित्य बड़ा गम्भीर होता था। वर्तमान काल की विद्वत्ता पुस्तकालयों में रखे विश्वकोषों में है। प्राचीन पण्डित अपने छात्रों को चलता-फिरता विश्व-कोष बनाने का प्रयत्न करते थे। शिक्षा प्रश्नोत्तर तथा वार्तालाप की पद्धति से दी जाती थी। उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या के गूढ़ तत्वों का इसी तरह उपदेश दिया गया है महात्मा बुद्ध का उपदेश-शैली भी इसी प्रकार की थी। इसका बड़ा लाभ यह था कि शिक्षा के समय शिष्य को उसमें पूरा मनोयोग देना पड़ता था। उसमें विचार और विश्लेषण की शक्ति विकसित होती थी। आवश्यक विषयों पर गुरु तथा शिष्यों में वाद-विवाद होते थे। इससे-उनमें वाक्पटुता, चिन्तन, निरीक्षण, तुलना आदि अनेक मानसिक शक्तियाँ प्रस्फुटित एवं पुष्ट होती थीं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी प्रायः निष्क्रिय रूप से अध्यापकों के व्याख्यान सुनता है। अतः

उसका मानसिक विकास नहीं हो पाता।

शिक्षा का आदर्श—प्राचीन काल में विद्यार्थियों को शिक्षा समाप्त होने पर, स्नातक बनते समय जो उपदेश दिया जाता था, उससे उस समय की शिक्षा के आदर्श भलीभाँति ज्ञात होते हैं। यह उपदेश तैत्रिरीय उपनिषद् में सुरक्षित है। इसमें कहा गया है—'सदा सत्य भाषण करो, धर्म का पालन करो, स्वाध्याय में कभी आलस्य मत करो, सत्य से कभी मुँह मत मोड़ो, दूसरों का भला करने में कभी आलस्य मत करो, तुमने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसे दूसरों तक पहुँचाओ। विद्वानों, माता-पिता और अतिथि की सेवा में तत्पर रहो। हमारे दोष-रहित कर्मों और उपदेशों का पालन करो। हमारी जो चीज उत्तम है, उसी का अनुसरण करो। दान देने में हाथ कभी मत रोकना। श्रद्धा, अश्रद्धा, संकोच, भय जिस भावना से भी हो दान करते रहना। जब कभी तुम्हें यह संशय उत्पन्न हो कि क्या कार्य और व्यवहार उचित है तो जो विचारशील, पक्षपात रहित, धर्म की कामना करनेवाले व्यक्ति हों, वे जैसा कहें, वैसा करना। हमारा तुम्हें यही आदेश है, यही उपदेश है, यही शिक्षा है, यही अनुशासन है।' इस सुन्दर उपदेश से यह ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल के गुरु अपने शिष्य से क्या आशायें रखते थे।

तपोवन पद्धति—उत्तर वैदिक युग में इस पद्धति का विशेष रूप से विकास हुआ, रामायण, महाभारत में इसका काफी वर्णन पाया जाता है। भारतीय संस्कृति के प्रसार तथा पुराणों में ऋषि-मुनियों की जंगलों में जाकर तपस्या करने तथा

अलौकिक फल पाने की अनेक कथाएँ हैं। आज कल तपस्या का अर्थ-आत्मपीड़न या शारीरिक यातना समझा जाता है। किन्तु प्राचीन काल में विक्षेपकारी प्रलोभनों और सुखों को तिलांजलि देकर किसी ऊँचे आदर्श या उद्देश्य के लिये अनन्य निष्ठा और एकाग्रता के साथ उग्र परिश्रम करना ही तपस्या कहलाती थी, भगीरथ ने गंगा की धारा लाने के लिये जो अथक और उग्र परिश्रम (तप) किया, वह आज तक प्रसिद्ध है। प्राचीन ऋषियों के जंगलों में जाकर तपस्या करने का अर्थ यही प्रतीत होता है कि वे इन जंगलों में ज्ञान के केन्द्र स्थापित करके अज्ञानान्धकार का नाश करें, जंगली जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाएँ। उन्हें उच्चतर नैतिकता और धर्म की दीक्षा दें। आर्यों के आगमन से पहिले सारा दक्षिण भारत राक्षस आदि अनार्य जातियों से आवासित था! महर्षि अगस्त्य सबसे पहले उस प्रदेश में गये और उन्होंने तपोवन स्थापित करके ज्ञान का आलोक फैलाना शुरू किया। उनके अतिरिक्त वहाँ सुतीक्ष्ण, शरभंग आदि के आश्रम भी अपने पड़ोस की जंगली जातियों को सभ्य बना रहे थे।

आश्रमों का दूसरा कार्य ज्ञान का विकास, प्रचार और उन्नति थी, ऋषि तपोवनों के सुरम्य एकान्त में पारलौकिक आध्यात्मिक समस्याओं पर विचार किया करते थे। श्रद्धालु जिज्ञासु दूर-दूर से उनके चरणों में बैठ कर ज्ञान प्राप्त करने आते थे उस समय के सब से बड़े विश्वविद्यालय यही थे। इन्ही में आरण्यक ग्रन्थों तथा उपनिषदों का निर्माण हुआ। दार्शनिक विचार की ऊँची से ऊँची उड़ानें ली गईं। तपोवन

प्राचीन हिन्दू * संस्कृति का एक प्रधान मूल स्रोत थे हमारे वाङ्मय के एक बड़े भाग का निर्माण इन्हीं में हुआ, रामायण, महाभारत, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ इन्हीं के शान्त वातावरण में लिखी गई।

भारतीय संस्कृति का आदर्श

हमारे प्राचीन ऋषि, मुनियों के सामने सांस्कृतिकविकास के समय समस्त मानव-समाज के कल्याण का दृष्टिकोण उपस्थित था। उन्हें सभी की उन्नति अभीष्ट थी और सभी के सुख के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते थे—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चिद्दुःख भागभवेत्॥

सभी सुखी हों और सभी निरोग हो, सभी का मंगल हो कोई भी दुःखी न हो। यही हमारे पूर्वजों की कामना थी। आज की संकीर्णता और स्वार्थता इन उद्देश्यों के सामने काँप उठती है। हमारे पूर्वजों की उदारता आकाश से भी असीम, समुद्र से भी गहरी तथा हिमालय से भी ऊँची थी। उनका आदर्श था :—

---

* हिन्दू शब्द के बारे में कुछ लोगों को भ्रम है, उनकी धारणा है कि मुसलमानों के साहित्य में हिन्दू शब्द के काफिर आदि अपमानजनक अर्थ हैं और उन्हीं लोगों ने यह शब्द आर्यों के अपमान अनादर की दृष्टि से कहना प्रारम्भ किया, पर हिन्दू शब्द का अभिप्राय है कि हरि (विष्णु) हर (शिव) आदि को मानने वाला (अनुयायी) हिन्दू कहलाता है और जो देश उसकी मातृ-भूमि और पित्र-भूमि है वह हिन्दुस्तान (भारत-वर्ष) कहा जाता है।

अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानान्तु, वसुधैव कुटुम्वकम् ॥

उन्होंने अपने पराये के भेद करने वाले को लघु, निकृष्ट एवं ओछा माना । समस्त पृथ्वी को अपना ही कुटुम्ब मानने वालों को उदार माना । यह समस्त विश्व हमारा घर है, कुटुम्ब है और हम सब हैं इसके प्राणी । इसीलिये उन्होंने पुकार-पुकार कहा था कि :-

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'

जो वात अपने प्रतिकूल हो वह दूसरों के विपरीत भी नहीं कहनी चाहिये । क्योंकि मैं ही सब में हूँ और सब मुझमें हैं ।

है सभी जन मेरे हम आप सभी जन केरे ।
फिर क्या मेरे क्या तेरे समझो यह भाई मेरे ॥

बस जब यही हमारा आदर्श हो और यही हो हमारा उद्देश्य तभी होगा जग का कल्याण, तभी होगी वसुधा में शान्ति ।

ॐ श्रीगुरु गोविन्दाय नमः

सदगुरु और सन्त के विषय में अपने एक निबन्ध में डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम० ए०, पी० एच० डी० लिखते हैं—गुरु का स्तवन, बन्दन करना भारतीय संस्कृति और परम्परा का प्रधान अंग रहा है । भारतीय समाज में चिर-काल से गुरु का स्थान वड़ा उच्च, महान् और समादरित रहा है । अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि प्राचीन भारतीय समाज में गुरु का व्यक्तित्व अद्वितीय रहा है । राजनीतिक समस्याओं का हल वही उपस्थित करता था । रामायणकाल में वशिष्ठ का क्या स्थान था, सभी जानते हैं । संस्कृत-साहित्य

में इसी कारण गुरु की महिमा का बड़ा गान हुआ है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म, तस्मैश्री गुरवे नमः ॥१॥
ध्यात मूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजा मूलं गुरोपदम्।
मन्त्र-मूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्ष-मूलं गुरो कृपा ॥२॥

घेरंड संहिता के तृतीयोपदेश में गुरु की महत्ता के विषय में कतिपय श्लोकों का उल्लेख मिलता है।

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरु क्वत्र समुद्भवा।
अन्यथा फल हीना स्यान्नीवीर्याप्यतिदुःखदा ॥
—घेरंड संहिता तृतीयोपदेश, श्लोक।१०।

गुरु पिता गुरु माता गुरु देवा न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते ॥ ,, ।१३।
गुरु प्रसादतः सर्व लभ्यते शुभमात्मनः।
तस्मात्सेव्यो गुरुनित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ॥ ,, ।१४।

तारकस्योपदेशेन गुरुर्भूत्वा विमुक्तिदः।
काश्यामप्पीश्वरस्त्वस्मादीश्वराधिको गुरुः ॥
गुरोअनुग्रहदिश ईश्वरनुग्रहाद् गुरुः।
श्रीगुरोर्दर्शन तेक्षुः परंत्वीश्वरदर्शन ॥ बोधसार ४।१२

विनापि क्षेत्र महात्म्यं गुरुमाहात्म्यतः कित।
विमुक्तिर्यत्र कुत्रापि न काश्या गुण बिना ॥ बोध० ४।१४

तात्पर्य यह है कि—गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महादेव हैं, गुरु साक्षात परब्रह्म हैं, उन श्रीगुरु देव को मैं नमस्कार करता हूँ।

गुरु की मूर्ति का ही ध्यान करना योग्य है। गुरु के ही पद

(चरणों) की पूजा करनी योग्य है, मन्त्र अर्थात् ज्ञान का मूल भी गुरु वचन (वाक्य) ही हैं और मोक्ष भी गुरु कृपा से ही सम्भव है।

केवल वही ज्ञान उपयोगी और शक्ति संपन्न है जो गुरु ने अपने ओठों से दिया है, नहीं तो वह ज्ञान निरर्थक, अशक्त और दुःखदायक हो जाता है। इसमें कोई भी संदेह नहीं कि गुरु ही माता है, पिता है और यहाँ तक कि वही ईश्वर भी है। उसकी सेवा मनसा, वाचा, कर्मणा होना अपेक्षित है। इसी कारण गुरु सेवा नित्य होनी चाहिये। अन्यथा कोई भी मांगलिक कार्य होने की सम्भावना नहीं है।

'बोधसार' में तो गुरु को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में ईश्वर से भी महान् व्यक्त किया गया है। गुरु के अनुग्रह से ही तो ईश्वर के दर्शन होते हैं और ईश्वर के अनुग्रह से ही सद्गुरु प्राप्त होते हैं, उस सद्गुरु का दर्शन ही ईश्वर-दर्शन में मुख्य कारण माना जाता है। गुरु की कृपा के अभाव में काशी आदि क्षेत्रों में भी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। संस्कृत के कवियों ने गुरु की उपमाएँ सूर्य, कमल, चन्द्र, स्वर्ण, आदि लौकिक एवं नैसर्गिक तत्वों से दी है। यह सब उसकी महत्ता का द्योतक है।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत गुरु के गुणगान में अनेकों उदाहरण उपलब्ध होते हैं। हिन्दी के सन्त कवियों ने गुरु को पथ-प्रदर्शक, ज्ञान का सागर आदि विशेषताओं से अलंकृत किया है। संतों की बानियाँ सद्गुरु के स्तवन, यशोगान से भरी पूरी हैं। सद्गुरु की महत्ता का गान उन्होंने बार बार

किया और फिर भी जैसे वह उससे थकते ही नहीं हैं। उन्होंने उसे 'गोविन्द' से भी बड़ा माना है। कबीर के समक्ष एक दिन बड़ी विकट समस्या आ उठी। बात यह थी कि एक दिन कबीर को उनके गुरु रामानन्द और 'गोविन्द' दोनों ही के एक साथ दर्शन हुए। कबीर के मन में संकल्प-विकल्प की लहरें हिलोरें मारने लगी। वे चिंतित हो उठे कि किसकी बंदना की जाय पहले। अन्त में हृदय और मस्तिष्क ने गुरु रामानन्द के पक्ष में निर्णय दिया।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े कागे लागू पायँ।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया मिलाय।

कबीर ने सोचा कि गुरु की ही कृपा से गोविन्द के वास्तविक स्वरूप के दर्शन उन्हें हुए। नहीं तो यह कैसे सम्भव होता। फलतः गोविन्द के चरणों को छोड़कर कबीर गुरु के चरणों पर गिर पड़े। गुरु और गोविन्द में बड़ा अन्तर है।

एक स्वतः पूर्ण, स्वतः प्रकाशित अनादि, अनाम, अभेद्य और अनन्त है। दूसरा अपूर्ण को पूर्ण बनानेवाला, सर्वात्मा का रहस्य बतानेवाला, ब्रह्म के तत्वों को प्रकाशित करनेवाला है। एक रहस्य है तो दूसरा रहस्य का उद्घाटक। फिर दोनों में क्या अन्तर है? कौन बड़ा है? रहस्य की अपेक्षा उसका भेद खोलनेवाला ही महान् है, कारण कि वह रहस्य के अन्तर्गत गति रखता है, वह उसके आन्तरिक स्वरूप से परिचित है। यही महान शक्ति कबीर ने अपने गुरु रामानन्द में पाई। वे ऐसा गुरु पाकर कृतकृत्य हो गये। मोह का अन्धकार छूट गया। ज्ञान का प्रकाश चतुर्दिक छिटक पड़ा। जिस दिन उषा-

बेला में रामानन्द के पैरों से ठोकर खाकर कबीर उठे, उसी समय मोह और अज्ञान निशा का अवसान हुआ, तम पर ज्ञान के प्रकाश की विजय हुई। कबीर राम और उसके रहस्य से परिचित हो गये द्वैत का भ्रम अवगत हो गया। पारस के स्पर्श से लौह भी स्वर्ण बन गया। इसीलिये कबीर ने अपने गुरुदेव को महान्, ब्रह्म से भी महान् और उच्च माना है। कबीर बड़े दूरदर्शी थे। वे जानते थे कि हरी के न प्रसन्न होने, दर्शन न होने पर सद्गुरु अन्य मार्ग द्वारा मुक्ति मिला सकते हैं, पर गुरु के तटस्थ हो जाने पर किसका सहारा ग्रहण किया जाय। कौन उस संकटपूर्ण स्थिति में सहायक हो सकता है।

कबीर ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥

इसलिये वे वारम्बार एक ही बात दोहराते हैं।

'गुरु बड़े गोविन्द ते मन में देखु विचार।' कारण कि—

हरि सुमिरै सो बार है, गुरु सुमिरै सो पार।

कबीर स्वप्न देखते हैं कि यदि समस्त पृथ्वी को साफ कर के कागज के समान लिखने के योग्य बना दिया जाय, सभी पेड़ों को काटकर लेखनी बना दी जाय और सभी सागरों में स्याही घोल दी जाय, और फिर इसके पश्चात् 'मसि कागज छूयो नहीं' सपथ लेनेवाले कबीर को यदि कहीं लिखने का अवसर प्रदान किया जाता तो भी वे गुरु की महत्ता का, उसके महत्व का उल्लेख करने में समर्थ न होते।

धरती सब कागद करूँ, लेखनी सब बनराय।
सात संमुद की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय ॥

कबीर के गुरु का कितना महान व्यक्तित्व है कितनी महान् आत्मा है कि कोई भी संसार में उसका उल्लेख करने में समर्थ नहीं है। उक्त साखी के पढ़ जाने के पश्चात् पाठकों को गुरु-माहात्म्य के विषय में और क्या पढ़ने के लिये रह जाता है। कबीर को भी यहीं गुरु स्तवन इति कर देना चाहिये था, पर कबीर को शान्ति नहीं। कारण कि गुरु को प्राप्त करने के लिये तो वे अपना शीश काटकर फेंक देना भी सस्ता सौदा समझते हैं।

यह तन बिष की बेल री, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलैं, तौ भी सस्ता जान॥

इसी प्रकार संत कवियों ने अनेक प्रकार से गुरुस्तवन बन्दनायें की हैं। नीचे कुछ और उदाहरण देकर यह लेख समाप्त करते हैं।

सुन्दर सतगुर ब्रह्ममय पर है शिव की दृष्टि।
सूधी ओर न देखई देखै दर्पन पृष्ठ॥
गुरु ब्रह्मा-गुरु विष्णु है, गुरु संकरु गुरु साध।
दूलन गुरु-गोविन्द भजु, गुरु मत अगम अगाध॥
सतगुरु पूरन ब्रह्म है, सतगुरु आप अलेख।
सतगुरु रमता राम है, यामें मीन न मेख॥
सतगुरु मिलै तो पाइये, भक्ति मुक्ति भंडार।
दादू सहजे देखिये, साहिब का दीदार॥
वंदउँ गुरू पद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु वचन रबि कर निकर॥

इस प्रकार मन, वाणी और कर्म से जो शिष्य विनीत भाव से गुरू की सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें प्रसन्न करके जो

अमर-ज्ञान-वरदान प्राप्त करते हैं। वास्तव में वे ही विद्या के तत्व को समझ सकते हैं, वही उसके वास्तविक अधिकारी हैं। उन्हीं के शास्त्ररूपी शस्त्र के सामने सारा संसार नतमस्तक होकर उनके गुरुत्व को स्वीकार करता है और तभी उसे पता चलता है कि ज्ञान-प्राप्ति से बढ़कर संसार में अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः का साधन ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। और यह गुरु-कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।

वास्तव में यही भारतीय संस्कृति का महान् आदर्श है।

आत्मा और ब्रह्म का बोधत्व

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्॥
(श्रीमद्भागवत् ११।२३।४३)

सुख-दुःख-निरूपण—ब्राह्मण कहता है—मेरे सुख अथवा दुःख का कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मन को ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसारचक्र को चला रहा है। सचमुच यह मन बहुत बलवान है। इसी ने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे संबंध रखने वाली वृत्तियों की सृष्टि की है। उन वृत्तियों के अनुसार ही सात्विक, राजस और तामस—अनेकों प्रकार के कर्म होते हैं और कर्मों के अनुसार ही जीव की विविध गतियाँ हैं। मन ही

समस्त चेष्टायें करता है उसके साथ रहनेपर भी आत्मा निष्क्रिय ही है। वह ज्ञान-शक्तिप्रधान है, जीव का सनातन सखा है और अलुप्त ज्ञान से सब कुछ देखता रहता हैं। मन के द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब वह मन को स्वीकार करके उसके द्वारा विषयों का भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मों के साथ आसक्ति होने के कारण वह उनसे बँध जाता है। सभी इन्द्रियाँ मन के वश में है। मन किसी भी इन्द्रिय के वश में नहीं है। यह मन बलवान से भी बलवान, अत्यन्त भयंकर देव है। जो इसको अपने वश में कर लेता है, वही देव-रूप—इन्द्रियों का विजेता है। सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है। इसका आक्रमण असह्य है। यह बाहरी शरीर को ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानों को भी वेधता रहता है। इसे जीतना बहुत ही कठिन है। मनुष्य को चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रु पर विजय प्राप्त करे; परन्तु होता है यह कि मूर्ख लोग इसे तो जीतने का प्रयत्न नहीं करते और दूसरे मनुष्यों से झूठ-मूठ झगड़ा-बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत के लोगों को ही मित्र-शत्रु उदासीन बना लेते हैं। साधारणतः मनुष्यों की बुद्धि अंधी हो रही है, तभी तो वे इस मनःकल्पित शरीर को 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रम के फंदे में फँस जाते हैं कि 'यह मैं हूँ और यह दूसरा।' इसका परिणाम यह होता है कि वे इस अनन्त अज्ञानान्धकार में ही भटकते रहते हैं। यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःख का कारण है, तो भी उनसे आत्मा का क्या सम्बन्ध? क्योंकि सुख-दुःख पहुँचानेवाला भी मिट्टी का शरीर है और भोगनेवाला भी कभी भोजन आदि के समय यदि अपने

दाँतों से ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे, तो मनुष्य किस पर क्रोध करेगा ? यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःख के कारण हैं, तो भी इस दुःख से आत्मा की क्या हानि ? क्योंकि यदि दुःख के कारण देवता हैं, तो इन्द्रियाभिमानी देवताओं के रूप में उनके भोक्ता भी तो वे ही हैं और देवता सभी शरीरों में एक हैं; जो देवता एक शरीर में हैं, वे ही दूसरे में भी हैं। ऐसी दशा में यदि अपने ही शरीर के किसी एक अङ्ग से दूसरे अङ्ग को चोट लग जाय तो भला किस पर क्रोध किया जायगा ? यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःख का कारण है तो वह अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं; क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है तो वह मिथ्या है। इसलिये न सुख है न दुःख; फिर क्रोध कैसा ? क्रोध का निमित्त ही क्या ? यदि ग्रहों को सुख-दुःख का निमित्त मानें, तो उनसे भी अजन्मा आत्मा की क्या हानि ? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीर पर ही होता है। ग्रहों की पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीर को ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरों से सर्वथा परे है। तब भला, वह किस पर क्रोध करे ? यदि कर्मों को ही सुख-दुःख का कारण मान लिया जाय तो उनसे आत्मा का क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे तो एक पदार्थ के जड़ और चेतन—उभयरूप होने पर ही हो सकते हैं। जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसी से कर्म हो सकते हैं; अतः वह विकारयुक्त होने के कारण जड़ होनी चाहिये और हिताहित का ज्ञान रखने के कारण चेतन। किन्तु देह तो अचेतन है और

उसमें पक्षीरूप से रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मों का तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता, फिर क्रोध किस पर करें ? यदि ऐसा मानें कि काल ही सुख-दुःख का कारण है, तो आत्मा पर उसका क्या प्रभाव ? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे अग्नि अग्नि को नहीं जला सकती और बर्फ बर्फ को नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्मा को ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किस पर क्रोध किया जाय ? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत है। आत्मा प्रकृति के स्वरूप, धर्म, कार्य, सम्बन्ध और गन्ध से भी रहित है। उसे कभी कहीं किसी के द्वारा किसी भी प्रकार से द्वन्द्व का स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकनेवाले अहंकार को ही होता है। जो इस बात को जान लेता है, वह फिर किसी भी भय के निमित्त से भयभीत नहीं होता। बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस परमात्मनिष्ठा का आश्रय ग्रहण किया है। हमलोगों को भी इसी का आश्रय ग्रहण करना चाहिये तभी मुक्ति तथा प्रेम के दाता भगवान् के चरणकमलों की सेवा के द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञानसागर को भगवान् की कृपा से ही पार किया जा सकता है। भागवत् में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी को समझाते हुये कहते हैं—

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः॥
तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः ॥११।२३।६०-६१

इस संसार में मनुष्य को कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्त का भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रु के भेद अज्ञान-कल्पित हैं। इसलिये प्यारे उद्धव! अपनी वृत्तियों को मुझ (परमात्मा) में तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मन को वश में कर लो और फिर मुझ (भगवान) में ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधन का इतना ही सार है।

जगत् जीव और ब्रह्म—भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव! अब मैं तुम्हें सांख्यशास्त्र का निर्णय सुनाता हूँ। प्राचीन काल के बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने इसका निश्चय किया है। जब जीव इसे भलीभाँति समझ लेता है, तो वह भेदबुद्धि-मूलक सुख-दुःखादिरूप भ्रम का तत्काल त्याग कर देता है। युगों से पूर्व प्रलयकाल में आदिसत्ययुग में और जब कभी मनुष्य विवेकनिपुण होते हैं—इन सभी अवस्थाओं में यह सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा, जगत और जीव विकल्पशून्य किसी प्रकार के भेदभाव से रहित केवल ब्रह्म ही होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ब्रह्म में किसी प्रकार का विकल्प नहीं है, वह केवल—अद्वितीय सत्य है; मन और वाणी की उसमें गति नहीं है। वह ब्रह्म ही माया और उसमें प्रतिबिम्बित जीव के रूप में—दृश्य और द्रष्टा के रूप में—दो भागों में विभक्त-सा हो गया। उनमें से एक वस्तु को प्रकृति कहते हैं। उसी ने जगत् में कार्य और कारण का रूप धारण किया है। दूसरी वस्तु को, जो ज्ञानस्वरूप है, पुरुष कहते हैं। परब्रह्म परमात्मा

ने ही जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार प्रकृति को क्षुब्ध किया। तब उससे सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुए। उनसे क्रिया—शक्ति प्रधान सूत्र और ज्ञानशक्ति प्रधान महत्तत्व प्रकट है। वे दोनों परस्पर मिले हुए ही हैं। महत्तत्व में विकार होने पर अहङ्कार ही जीवों को मोह में डालनेवाला है। वह तीन प्रकार का है—सात्विक, राजस और तामस। अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा, इंद्रिय और मन का कारण है; इसलिये वह जड़-चेतन—उभयात्मक है। तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ और उनसे पाँच भूतों की उत्पत्ति हुई तथा राजस अहङ्कार से इंद्रियाँ और सात्विक अहङ्कार से इंद्रियों के अधिष्ठाता ग्यारह देवता (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार) ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता प्रकट हुए। ये सभी पदार्थ भगवान् की प्रेरणा से एकत्र होकर परस्पर मिल गये और उन्होंने यह ब्रह्माण्डरूप अण्ड उत्पन्न किया। यह अण्ड ही ब्रह्म का उत्तम निवासस्थान है। जब वह अण्ड जल में स्थित हो गया, तब भगवान कृष्ण कहते हैं कि मैं नारायणरूप से इसमें विराजमान हो गया, मेरी नाभि से विश्वकमल की उत्पत्ति हुई। उसी पर ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ। विश्वसमष्टि के अन्तःकरण ब्रह्मा ने पहले बहुत बड़ी तपस्या की। उसके बाद मेरा (ब्रह्म का) कृपा-प्रसाद प्राप्त करके रजोगुण के द्वारा भूः, भुवः स्वः अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीन लोकों की और इनके लोकपालों की रचना की। देवताओं के निवास के लिये स्वर्लोक, भूत-प्रेतादि के लिये भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) और मनुष्य आदि के लिये भूर्लोक

(पृथ्वीलोक) का निश्चय किया गया। इन तीनों लोकों से ऊपर महर्लोक, तपलोक आदि सिद्धों के निवासस्थान हुए। सृष्टिकार्य में समर्थ ब्रह्माजी ने असुर और नागों के लिये पृथ्वी के नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये। इन्हीं तीनों लोकों में त्रिगुणात्मक कर्मों के अनुसार विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं। योग, तपस्या और संन्यास के द्वारा महर्लोक, जनलोक, तपलोक, और सत्यलोक रूप उत्तम गति प्राप्त होती है तथा भक्तियोग से मेरा परम धाम मिलता है। यह सारा जगत कर्म और उनके संस्कारों से युक्त है। ब्रह्मरूप परमात्मा ही कालरूप से कर्मों के अनुसार उनके फल का विधान करता है। इस गुणप्रवाह में पड़कर जीव कभी डूबता, कभी ऊपर आता, कभी उसकी अधोगति होती है, कभी उसे पुण्यवश उच्चगति प्राप्त हो जाती है। जगत् में छोटे-बड़े, मोटे-पतले—जितने भी पदार्थ बनते हैं, सब प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से ही सिद्ध होते हैं। जिसके आदि और अन्त में जो है, वही बीच में भी है और वही सत्य है। विकार तो केवल व्यवहार के लिये की हुई कल्पनामात्र है। जैसे कंगन, कुण्डल आदि सोने के विकार और घड़े-सकोरे आदि मिट्टी के विकार पहले सोना या मिट्टी ही थे, बाद में भी सोना या मिट्टी ही रहेंगे। अतः बीच में भी वे सोना या मिट्टी ही हैं। पूर्ववर्त्ती कारण (महत्तत्व आदि) कार्य-वर्ग की सृष्टि करते हैं, वही उनकी अपेक्षा भी परम सत्य है। तात्पर्य यह कि जब जो जिस किसी भी कार्य के आदि और अन्त में विद्यमान रहता है, वही सत्य है। इस प्रपंच का उपादान-कारण प्रकृति

है, परमात्मा अधिष्ठान है और इसको प्रकट करनेवाला काल है। व्यवहार काल की यह त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्म-स्वरूप है और मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ। जबतक परमात्मा की ईक्षणशक्ति अपना काम करती रहती है, जबतक उनकी पालन-प्रवृत्ति बनी रहती है तबतक जीवों के कर्म-भोग के लिये कारण-कार्यरूप से अथवा पिता-पुत्रादि रूप से यह सृष्टिचक्र निरन्तर चलता रहता है। यह विराट् ही विविध लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार की लीलाभूमि है। जब परमात्मा कालरूप से इसमें व्याप्त होता है, तथा प्रलय का संकल्प करता है तब वह भुवनों के साथ विनाशरूप विभाग के योग्य हो जाता है। उसके लीन होने की प्रक्रिया यह है कि प्राणियों के शरीर अन्न में, अन्न बीज में, बीज भूमि में, और भूमि गन्ध—तन्मात्रा-में लीन हो जाती है। गन्ध जल में, जल अपने गुण रस में, रस तेज में और तेज रूप में लीन हो जाता है। रूप वायु में, वायु स्पर्श में, स्पर्श आकाश में तथा आकाश शब्द-तन्मात्रा में लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने कारण देवताओं में और अन्ततः राजस—अहङ्कार में समा जाती है। राजस-अहङ्कार अपने नियन्ता सात्विक-अहङ्कार रूप मन में, शब्द-तन्मात्रा पञ्चभूतों के कारण तामस-अहङ्कार में और सारे जगत् को मोहित करने में समर्थ त्रिविध अहङ्कार महत्तत्व में लीन हो जाता है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति-प्रधान महत्तत्व अपने कारण गुणों में लीन हो जाता है। गुण अव्यक्त प्रकृति में और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी काल में लीन हो जाती है। काल मायामय जीव में और जीव—भगवान कृष्ण कहते

हैं कि–मुझ अजन्मा आत्मा में लीन हो जाता है। आत्मा किसी में लीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। वह जगत् की सृष्टि और लय का अधिष्ठान एवं अवधि है। भगवान कृष्ण कहते हैं—उद्धवजी जो इस प्रकार विवेक दृष्टि से देखता है, उसके चित्त में यह प्रपंच का भ्रम हो ही नहीं सकता। यदि कदाचित् उसकी स्फूर्ति हो भी जाय, तो वह अधिक काल तक हृदय में ठहर कैसे सकता है? क्या सूर्योदय होने पर भी आकाश में अन्धकार ठहर सकता सकता है। श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण उद्धवजी को समझाते हुए कहते हैं—

> एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
> प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥ (११।२४।२९)

मैं कार्य और कारण दोनों का साक्षी हूँ। मैंने तुम्हें सृष्टि से प्रलय और प्रलय से सृष्टि तक की सांख्य विधि बतला दी। इससे संदेह की गाँठ कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

तत्त्व ज्ञानोपदेश—वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान स्वतः प्रमाण है, परतः प्रमाण नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थ का यथार्थ निश्चय करने में ज्ञान ही अन्तिम निर्णायक होगा। सम्पूर्ण व्यवहार अपने ज्ञान के आधार पर ही चलता है। किसी भी विषय के होने एवं न होने का निर्णय करने में ज्ञान ही अन्तिम कारण होगा। उदाहरणार्थ—विषय की सत्ता इन्द्रियों से, इन्द्रियों की मन से, मन की बुद्धि से और बुद्धि की ज्ञानस्वरूप आत्मा से निश्चित होती है। अज्ञान का अनु-

भव भी ज्ञान ही है, परन्तु ज्ञान को प्रमाणित करने के लिये क्या ज्ञान से भिन्न पदार्थ की आवश्यकता होगी ? कदापि नहीं। इसलिये ज्ञान की सत्ता अखण्ड है। प्रमाणों के द्वारा ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। ज्ञान से ही समस्त प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः है, परतः नहीं।

अपरिच्छेद-रूप लक्षण के एक रूप होने के कारण 'ज्ञान' 'आत्मा', 'ब्रह्म' और 'विश्व' आदि शब्द पर्यायवाची हैं और एक ही अर्थ के बोधक हैं। यथा—'प्रज्ञानं ब्रह्म' प्रज्ञान अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' यह सम्पूर्ण विश्व अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है। (अहमेवेदं सर्वम्) मैं ही यह सब हूँ। 'प्रतिबोधविदितं मतम्' प्रत्येक ज्ञान ही उसका ज्ञान है। 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' सम्पूर्ण प्रज्ञान घन ही है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' विज्ञान और आनन्द ब्रह्म ही है। गीता में 'ज्ञानं ज्ञेयम्' श्रीमद्भागवत में 'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति', विष्णुपुराण में (ज्ञानस्वरूप में बाह्यर्जगदेतत्, इत्यादि वचनों से उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है। इस प्रकार उपनिषद् का प्रतिपाद्य अर्थ 'अहम्' 'इदम्' 'प्रत्यगात्मा' एवं 'विश्वम्' की ब्रह्मरूपता है। अब यह ब्रह्म क्या है। इसको उपनिषद् के ही शब्दों में देख लीजिये—

तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म। सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।' इसका अभिप्राय है कि जो देश, काल, वस्तु-परिच्छेद से रहित सर्वानुभवस्वरूप अपना आत्मा है वही ब्रह्म है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तत्वमसि' यह समस्त

(भासमान द्वैतप्रपञ्च) वास्तव में ब्रह्म ही है। वही (ब्रह्म) तू है।

यह उपनिषद् के तत्व ज्ञानोपदेश का सारांश है। जीव के सकल दुःखों के कारण—इस अविद्या की निवृत्ति के लिये उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व का उपदेश भी हुआ है, जिसे पूर्वाचार्यों ने—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इन सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ईश्वर-प्रार्थना

रामनाम एवं प्रार्थना पर पूज्य महात्मा गान्धीजी के कुछ महत्वपूर्ण विचार।

राम, अल्लाह, गाड सब मेरे नजदीक एकार्थक शब्द हैं।

विद्वत्ता हमें जीवन की अनेक अवस्थाओं से पार ले जाती है, पर संकट और प्रलोभन के समय वह हमारा साथ बिल्कुल नहीं देती। उस हालत में अकेली श्रद्धा ही हमें उबारती है। रामनाम उन लोगों के लिये नहीं है जो ईश्वर को हर तरह से फुसलाना चाहते हैं और हमेशा अपनी रक्षा की आशा उससे लगाये रहते हैं। यह उन लोगों के लिये है जो ईश्वर से डरकर चलते हैं और जो संयमपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं लेकिन अपनी निर्बलता के कारण उसका पालन नहीं कर पाते।

'निराधार का आधार भगवान है' अगर आप उससे

सहायता की प्रार्थना करना चाहते हैं, तो आप अपने सच्चे रूप में उसके पास जायँ। किसी तरह का संकोच या दुःख-छिपाव न रखकर उसकी शरण लें और इस बात की आशंका न रखें कि आप जैसे अधम और पतित को वह कैसे सहायता दे सकता है, कैसे उबार सकता है। जिसने अपनी शरण में आये लाखों-करोड़ों की सहायता की, वह क्या आपको असहाय छोड़ देगा। वह किसी तरह का पक्षपात और भेद-भाव नहीं रखता। आप देखेंगे कि वह आपकी हरएक प्रार्थना सुनता है। अधम-से-अधम की भी प्रार्थना भगवान सुनेगा।

लेकिन प्रार्थना केवल शब्दों की या कानों की कसरत ही नहीं है। अगर रामनाम आत्मा को जाग्रत न कर सके, तो आप उसका कितना ही जप क्यों न करें, सब व्यर्थ जायगा। यदि आप शब्दों के बिना भी भगवान की प्रार्थना करें, तो वह उस प्रार्थना से कहीं अच्छी है, जिसमें शब्द तो बहुत हैं परन्तु हृदय नहीं है। प्रार्थना उस आत्मा के स्पष्ट उत्तर में होनी चाहिये, जो हमेशा उसकी भूखी रहती है। और जिस तरह भूखा आदमी स्वादिष्ट भोजन पाकर प्रसन्न होता है उसी तरह भूखी आत्मा हार्दिक प्रार्थना से आनन्द अनुभव करती है। मैं अपने और अपने साथियों के अनुभव से यह बात कहता हूँ कि जिसने प्रार्थना के चमत्कार का अनुभव किया है, वह भोजन के बिना तो कई दिनों तक रह सकता है लेकिन प्रार्थना के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, क्योंकि प्रार्थना के बिना आन्तरिक शान्ति नहीं मिलती।

इसमें कोई शक नहीं कि रामनाम सबसे ज्यादा यकीनी

इमदाद है। अगर दिल से उसका जप किया जाय तो वह हर एक बुरे खयाल को तुरन्त दूर कर सकता है और फिर उसका सारा जीवन ही उसकी भीतरी पवित्रता का सच्चा सबूत होगा।

सामूहिक प्रार्थना

१—जय जय सुरनायक जन-सुख-दायक प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी जय असुरारी सिन्धु-सुता-प्रिय कंता॥
पालन सुर-धरनी अद्भुत करनी मर्म न जानै कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करहु अनुग्रह सोई॥
जय जय अविनासी सब घट वासी व्यापक परमानन्दा।
अविगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुन्दा॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी विगत मोह मुनि वृन्दा।
निशि वासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानन्दा॥
जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करहु अघारी चिन्त हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भव भय-भञ्जन मुनि-मन-रंजन गंजन बिपति-बरूथा।
मन वच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर यूथा॥
सारद श्रुति शेषा रिषिय असेषा जाकहँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवहु सो श्री भगवाना॥
भव-वारिधि-मन्दर सब विधि सुन्दर गुन-मन्दिर सुख-पुंजा।
मुनि सिद्धि सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद-कंजा॥

२—वह शक्ति हमें दो दयानिधे! कर्तव्य-मार्ग पर डट जावें।
पर-सेवा पर-उपकार में हम जग-जीवन सफल बना जावें॥
हम दीन-दुखी निबलों-विकलों के सेवक बन संताप हरें।

जो हैं अटके भूले भटके उनको तारें हम तर जावें ॥
छल-दंभ, द्वेष, पाखण्ड, झूठ, अन्याय से निशिदिन दूर रहें।
जीवन हो शुद्ध सरल अपना शुचि प्रेम सुधा रस बरसावें ॥
निज आन-कान मर्यादा का प्रभु ध्यान रहे, अभिमान रहे।
जिस देश-जाति में जन्म लिया, बलिदान उसी पर हो जावें ॥

३—जगा दो भारत को भगवान।

बिहार जागे, उत्कल जागे, जागे बंग महान।
कर्नाटक, गुजरात, मराठा, सारा हिन्दुस्तान ॥
काश्मीर, पंजाब, अवध व्रज, प्रिय नैपाल, भुटान।
महा कुसल, मालव उठ बैठे, गरजे राजस्थान ॥
मैं बंगाली, तू मद्रासी, इसका रहे न मान।
गंगा-यमुना सम मिल जावें सब भारत सन्तान ॥
बाल, वृद्ध, युवकों के मुख पर होवे मृदु-मुस्कान।
मिल करके सब सत्यभाव से करें प्रेम-रस-पान ॥
ब्राह्मण हों तेजस्वी, त्यागी, गौतम-कपिल-समान।
तन्मय हों मृदु स्वर से गावें सामवेद का गान ॥
क्षत्रिय हों राणाप्रताप-से रण बाँके बलवान।
स्वतंत्रता हित करें निछावर हँस हँस के निज प्रान ॥
भामासाह-समान वैश्य हों करें देशहित दान।
शूद्र बनें रैदास भक्त-से होय विश्व-कल्यान ॥
सावित्री, सीता, दमयन्ती, फिर से प्रगटें आन।
दुर्गावती लक्ष्मी बाई की चमके किरपान ॥
बालक ध्रुव प्रह्लाद सदृश हों धरें तुम्हारा ध्यान।
वीर हकीकत-सम हो जावें, धर्म-हेतु बलिदान ॥

प्रार्थना के कुछ मन्त्र

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतैः स्तुन्वन्ति दिव्यैस्तवैः
वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो—
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र, और पवन दिव्य स्तोत्रों से जिसकी स्तुति करते हैं, सामवेद का गान करनेवाले मुनि, अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषद् सहित वेदों से जिसका स्तवन करते हैं, योगी लोग ध्यानस्थ होकर ब्रह्ममय मन द्वारा जिसका दर्शन करते हैं और सुर तथा असुर जिसकी महिमा का पार नहीं पाते, मैं उस परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥

जगत् के कारणरूप और सतस्वरूप हे प्रभो, तुझे नमस्कार है। सब लोगों के आश्रय, हे चितस्वरूप, तुझे नमस्कार है। मुक्ति देनेवाले हे अद्वैततत्त्व, तुझे नमस्कार है। ऐसे शाश्वत और सर्वव्यापी ब्रह्म को मेरा नमस्कार है।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालंबमीशं—
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥

हम तेरा स्मरण करते हैं और तेरा भजन करते हैं; तू जगत का साक्षीरूप है, तुझे हम नमस्कार करते हैं। सत-स्वरूप, एक

मात्र साधन और किसी का भी आधार न लेनेवाले, संसार-सागर के नौका रूप ईश्वर की शरण हम लेते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

दैहिक, दैविक, भौतिक त्रिविध तापों की शान्ति हो।

शुभ-आदेश *

१—नित्य प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व निद्रा का त्याग करो।

२—प्रतिदिन अपने से बड़ों का अभिवादन करो।

३—नित्य संध्याकाल ईश्वर की प्रार्थना करो।

४—नित्य अथिति यज्ञ करो।

५—पर-निन्दा कभी न करो।

पढ़ो और आचरण में लाओ ये उपदेश वेद तथा शास्त्रानुकूल हैं।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, काशी।

परामर्शदाताः—अ० भा० सांस्कृतिक पुनरुत्थान परिषद्।
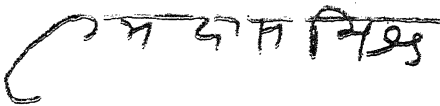
उपर्युक्त शुभ पंचादेश देखने में बहुत ही छोटे और साधारण प्रतीत होते हैं किन्तु प्रभाव में वे 'नावक के तीर' की भाँति कितने प्रभावशाली हैं। इसे वही जान सकता है जो इन्हें अपने आचरण का रूप दे चुका है।

———

* उक्त स्वामीजी ने (शुभ-आदेश) नामक पुस्तक में प्रत्येक आदेश की विस्तृत व्याख्या लिखी है। जिसका मूल्य ।।) है। जिज्ञासु महानुभाव पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्त करें या फिर हिन्दी-प्रचारक-मण्डल, लखनऊ से मँगा सकते हैं।

अध्यात्म चेतना का अंकुर,
उर उर में शीघ्र जगाने को।
है हुआ आप का आवाहन,
शुभ सत्य कर्म अपनाने को॥

— [signature]

संचालक

अध्यात्म प्रचार परिषद्

केन्द्रीय कार्यालय

कैलाश भवन, घसियारी मण्डी

लखनऊ